शोध विषय :-

मध्यकालीन काव्य में जनवादी चेतना की अभिव्यक्ति के स्वरूप का अध्ययन

(डी० फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबंध)

कला संकाय (हिन्दी विभाग)
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद (उ० प्र०) भारत

शोधार्थी

राम कृपाल राय

कला संकाय (हिन्दी विभाग)
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

शोध निर्देशक

डॉ० कृपाशंकर पाण्डेय

हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

(उ० प्र०) भारत

सन् 2002

भूमिका

भूमिका

प्रस्तुत शोध प्रबंध 'मध्यकालीन काव्य में जनवादी चेतना की अभिव्यक्ति के स्वरूप का अध्ययन' विषय पर एक ऐसा प्रयास है जिसमें आधुनिक मूल्यों के आधार पर अतीत के उन मूल्यों की पहचान करने का प्रयास किया गया है, जिसमें मनुष्य के मानवीय पक्ष को अभिव्यक्ति मिली है। मार्क्सवादी दृष्ट्रि,जनवादी चेतना को केन्द्र में रखकर मध्ययुगीन साहित्य की जाँच - परख नि: सन्देह उन नैतिक मूल्यों को स्थापित करता है, जिसमे विकासोन्मुख शक्तियाँ सदैव गतिशील रहती हैं। गति जो जीवन का सर्वप्रधान गुण है- समाज को किस धारा मे बहाते हुए अपनी अनवरत लीला को जारी रखे हुए है और उसमें सामान्य जन किस रूप में अपने आप को खड़ा कर पाता है, साथ चल पाता है, आदि मूल्यो की पहचान का भी प्रयास किया गया है। प्रस्तुत शोध प्रबंध को आसान तथा विश्लेषणीय बनाने हेतु छ: अध्यायों में विभक्त किया गया है जिसके अन्दर निम्न बिन्दुओं पर प्रकाश डाला गया है।

जनवाद की अवधारणा (प्रथम अध्याय) व्यावहारिक सोद्देश्य और द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी होती है। यह विश्व की आर्थिक, राजनीतिक घटनाओं तथा अन्तर्विरोध का वर्ग संघर्ष की दृष्टि से विश्लेषण करती है। जनवाद की दृष्टि अतीत की अपेक्षा वर्तमान को अधिक महत्व देती है और निश्चित निर्देश में युग को बदलने के प्रति कटिबद्ध होती है। इन्हीं मूल्यों के आधार पर भारतीय दृष्टिकोण तथा मार्क्सवादी दृष्टिकोण की पहचान करने का प्रयास किया गया है । मार्क्सवादी चिन्तक ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टि के आधार पर 'पदार्थ' को वस्तु जगत का प्रधान तत्व स्वीकार करता है और उसी के माध्यम से समस्त जगत के उद्‌भव के सिद्धान्त को प्रतिपादित करता हुआ, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद जैसी विचारधारा की अभिव्यक्ति करता है।

मार्क्सवादी चिन्तकों ने जगत का व्यापार अणुओं और परमाणुओं का संघटन बताते हुए भाववादी विचार धारा के आत्मा और परमात्मा सबधी विवेचनाओं को खण्डित कर

दिया । तत्पश्चात् मार्क्सवादी चिन्तकों ने शोषक वर्ग के खिलाफ क्रान्तिकारी भावनाओं का समावेश करते हुए जनवादी अर्थात् जन साधारण के आशा-निराशा जैसे विषय वस्तु को साहित्य का वर्ण्य विषय माना और जन सामान्य को केन्द्र में रखकर साहित्य का सृजन किया। जनवादी साहित्य का काम सर्वहारा (शोषित) के नजरिये से विश्व को देखना, विश्लेषित करना, आम आदमी के संघर्षो से एक जुट होना और कलात्मक अभिव्यक्ति देना है। जनवाद के इसी भूमिका को रेखांकित करने का प्रयास इस अध्याय मे किया गया है।

भक्तिकालीन साहित्य की पृष्ठभूमि (द्वितीय अध्याय) के अन्तर्गत उनसभी बिन्दुओं पर विचार किया गया है जो भक्ति तत्व के उद्‌भव और विकास में कारक बने। भक्ति जो हृदय की पवित्र आस्था है, को केन्द्र में रखकर भक्ति तत्व का जन सामान्य के स्तर पर जुड़ाव किस रूप में हुआ - इसका भी विवेचन किया गया है। भक्ति आंदोलन जिसे चिन्तकों ने 'लोकजागरण', 'जन आन्दोलन', 'जन चेतना' जैसे संज्ञाओं से अभिहित किया है, के परिप्रेक्ष्यमें जन साधारण वर्ग की दृष्टि से वह कहाँ तक सार्थक रहा, और किस स्तर तक भक्ति साहित्य ने निम्न वर्ग के आशाओं-आकांक्षाओं को तृप्त कर सका; इसका भी मूल्यांकन इस अध्याय में भक्ति के उदय के संबंध में किया गया है।

जनवादी आधार पर निर्गुण भक्ति धारा का विश्लेषण (तृतीय अध्याय) निश्चित रूप में संत कतियों के भावनाओं के प्रदेय को रेखांकित करता है। संत साहित्य निम्न वर्गो के जातीय चिन्तन की अभिव्यक्ति है ।

निर्गुण ब्रह्म जो स्पर्श से रहित है, गंध से रहित है, तीनों गुणो से परे है, किस प्रकार जन साधारण वर्ग को लिए दिये उनकी भावनाओं को तृप्त कर सका और जनचेतना की क्रान्ति को किस हद तक दिशा दे सका, आदि की पहचान करने का प्रयास इस अध्याय का वर्ण्य विषय रहा है। जनवादी मूल्यों की पहचान कबीर और प्रेमाख्यान धारा के प्रसिद्ध सूफी संत कवि जायसी को केन्द्र में रखकर किया गया है। संत काव्य धारा की सबसे बड़ी

विशेषता रही है कि इस धारा के सभी कवि निम्न वर्ग से आये और अपनी जातीय चेतना को आध्यात्म के माध्यम से अभिव्यक्ति दी। 'प्रेम' को केन्द्र मानकर जनता के अशांत चित्त को शांत करने का जो प्रयास इन संत कवियों ने किया, वह निश्चित रूप में भारतीय जन साधारण वर्ग की अस्मिता को रेखांकित करता है। जन सामान्य के हितों की रक्षा का प्रयत्न ही इन कवियों के वाणियों का केन्द्रीय विषय था। इन कवियों ने जाति-पॉति विहिन समाज, वर्ण, वर्ग विहीन समाज की कल्पना की और समाज मे व्याप्त समस्त बुराइयो पर जम कर प्रहार भी किया- जिसके केन्द्र में जनकल्याण की भावना निहित थी, जो सही अर्थो में जनवादी चेतना की पहचान कराती है।

जनवादी दृष्टि से सगुण काव्य धारा का विश्लेषण (चतुर्थ अध्याय) राम और कृष्ण के अवतारी स्वरूप को केन्द्र में रखकर जन कल्याण की भावना के आधार पर किया गया है। राम और कृष्ण विष्णु के अवतार के रूप में, लीला धारी पुरुष के रूप में- चित्रित किये गये हैं,के विराटत्व रूप की परम्परा पर भी प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। राम भक्ति धारा के प्रमुख कवि गोस्वामी तुलसी दास के साहित्य को केन्द्र में रखकर उन मूल्यों की पहचान करने का प्रयास किया गया है जो इस शोध का वर्ण्य विषय है। राम का चित्रण तुलसीदास जी ने एक ऐसे संघर्षशील पुरुष के रूप में किया है - जो अपने कर्मपथ का निर्माण स्वयं करता है । मध्यकालीन जनता जो बौद्ध और नाथों के प्रभाव के कारण बहुत हद तक निवृत्तमार्गी हो चुकी थी, उसे प्रवृत्तिमार्गी बनाने हेतु कर्मवाद के सिद्धान्त को व्यवहारिक रूप में राम के कथा में चित्रित किया गया। जन साधारण के स्तर पर उतर कर एक राजकुमार द्वारा कोल, किरात आदि शूद्रों को बराबरी का दर्जा देना, जनवादी चेतना को स्थापित करता है। राम का केवट से मिलन, भरत और वशिष्ठ जैसे लोगों का शूद्रों को गले लगाना, जन सामान्य वर्ग के चेतना और भावनाओ को पुष्ट करता है। अत: इन्हीं बिन्दुओ के आधार पर राम काव्य धारा के उन पक्षों की जॉच परख की गयी है जो जनवादी चेतना को गति प्रदान करती है । 'रामराज्य' की कल्पना के आदर्श में जन सामान्य की

भावनाओं की स्थिति का मूल्यांकन भी इस अध्याय का वर्ण्य विषय रहा है। सगुण काव्य धारा की दूसरी प्रवृत्ति कृष्ण धारा में सूर के काव्य को केन्द्र में रखकर लोकवादी चरित्र को उद्घाटित किया गया है। सूर का काव्य जनसामान्य की भावनाओं को तृप्त करता हुआ कृष्ण के लीलाधारी रूप का चित्रण करता है। जिसमें जनवादी साहित्य के रूप में वृंदावन का पूरा वर्णन उभर कर आता है। प्रेमदीवानी, 'मीरा' के द्वारा सामंतीय मूल्यों का विरोध भी जनवादी चेतना की स्थापना करता है, जो कृष्ण काव्य-धारा को प्रेममयी भावभूमि पर प्रतिष्ठित करती है। इन्हीं बिन्दुओं को केन्द्र में रखकर कृष्ण काव्य धारा का मूल्यांकन किया गया है। साथ ही कवि रसखान के काव्य की समीक्षा भी है जो मूलत: उनके भक्त हृदय को ही स्पष्ट करता है।

भक्ति साहित्य के अन्तर्विरोध जनवादी दृष्टि से, (पंचम अध्याय) में भक्ति साहित्य के अन्तर्गत आये उन समस्त बिन्दुओं को विश्लेषित किया गया है जो किसी न किसी रूप में जनवादी मूल्यों को स्थापित करने में विफल रहे हैं। प्रत्येक युग का साहित्य अपने सामाजिक दबावों के प्रभाव से प्रभावित अवश्य रहता है और यही कारण है कि उस साहित्य में जगह जगह ऐसी विचारधाराओं का समावेश भी हो जाता है जो वस्तुत: उस साहित्यिक विद्या को गति देने में जनसामान्य के स्तर पर विफल प्रतीत होती है। अत: इन्हीं अर्न्तद्वन्द्वों की पहचान इस अध्याय का वर्ण्य विषय है । मध्ययुगीन साहित्य लोक ओर शास्त्र, सामान्य जन ओर सामंतवर्ग, निर्गुण और सगुण तथा शूद्र और द्विज के अन्त: संघर्षो को उद्घाटित करता है। अस्तु इस अध्याय में इन्ही बिन्दुओं को केन्द्र में रखकर जनवादी मूल्यों की जॉच परख की गयी है।

षष्ठम् अध्याय जो इस शोध का अंतिम अध्याय है, मे शोध प्रबंध के उन समस्त बिन्दुओं को सूक्ष्म रूप में उद्घाटित करने का प्रयास किया गया है, जो जनवादी चेतना की स्थापना करते हैं। भक्ति साहित्य को मूलत: ग्रामीण संस्कृति के रूप में और जन सामान्य के आशाओं आकांक्षाओं के रूप में देखने का आलोचनात्मक प्रयास ही इस शोध का केन्द्रीय

स्वर है। कबीर, जायसी, तुलसी, सूर, मीरा और रसखान को केन्द्र में रखकर सम्पूर्ण मध्यकालीन साहित्य के सभी पहलुओं पर विचार विमर्श करते हुए उन मूल्यों को उद्‌घाटित करने का प्रयास इस शोध में किया गया है जो समाज को गति देता है, मनुष्यता के स्तर पर लोक को स्थापित करता है। **भक्ति साहित्य में ईश्वर का मनुष्य के रूप में रूपान्तरण ही जनवादी समझ को विकसित करता है।** अत: मनुष्य को केन्द्र में रखकर जन साधारण वर्ग की अस्मिता की पहचान ही जनवादी चेतना की वास्तविक पहचान है, जो हमे मध्ययुगीन साहित्य में कुछ एक स्थलों को छोडकर हर जगह दृष्टिगोचर हो जाता है। क्योंकि भक्त कवियों की वाणी का उद्देश्य ही यही था - **''मानवता के द्वारा ही मनुष्यता से पूर्ण मानव समाज की स्थापना।''**

आज भारतीय समाज विकट संकट के दौर से गुजर रहा है। जिसमें पुन: वे शक्तियाँ जो मध्य युग को अध: पतन की ओर ले गयी थी - स्पष्ट रूप में देखी तथा पहचानी जा सकती है। जाति के स्तर पर, वर्ग के स्तर पर, राजनीति के स्तर पर, आर्थिक स्तर पर, धार्मिक स्तर पर, सामाजिक स्तर पर- जो विवाद समाज में पनप रहा है - नि:सन्देह मध्ययुगीन भक्त कवियों का अनुशीलन दिशा निर्देश देगा। अगर भारतीय समाज अतीत के उन मूल्यों को समझने का प्रयास करे, जो हमारे श्रेष्ठ भावनाओं के उदाहरण रहे हैं, तो नि: सन्देह उन कवियों के प्रति हमारा सच्चा श्रद्धानवत प्रेम और विश्वास होगा जो हमारी धर्म निरपेक्ष ताकतों को शक्ति रूपी आस्था प्रदान करने में सहायक सिद्ध होगी। इस शोध प्रबंध का वर्ण्य विषय भी धर्म निरपेक्ष ताकतों को शक्ति प्रदान करने के निमित्त मुझ अंकिचन का थोड़ा सा प्रयास है।

इस शोध प्रबंध को पूरा करने मे जिन लोगों का सहयोग रहा उसमें सर्वप्रथम श्रद्धेय गुरूवर डॉ0 कृपाशकर पाण्डेय हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्व विद्यालय इलाहाबाद का मै सहृदय से आभारी हूँ जिन्होंने अपने निर्देशन में मुझे शोध करने का अवसर प्रदान किया और साथ ही अपना विशेष आर्शिवाद सामग्री के स्तर पर, विषय को स्पष्ट करने के स्तर पर,

बनाये रखे। इसके साथ ही अपने पूज्य माता-पिता तथा परिवार के सभी सदस्यो के प्रति मैं श्रद्धानवत तथा आभारी हूँ जिन्होंने हमको शोध करने के लिए प्रेरित किया । प्रेरणादायी स्त्रोत के रूप में डॉ0 दीनानाथ राय, प्रवक्ता (इतिहास), सर्वोदय किसान इण्टर कालेज, कौड़ीराम-गोरखपुर, का मैं विशेष रूप से आभारी हूँ जिन्होंने प्रत्येक समय हमारी शोध की प्रवृत्ति को उर्जावान बनाने में सहयोग देते रहे। शोध सामग्री उपलब्ध करवाने में डॉ0 संजय शर्मा, प्रवक्ता (अंग्रेजी), सर्वोदय किसान डिग्री कालेज कौड़ीराम, श्री शैलेन्द्र शर्मा, एडवोकेट (हाई कोर्ट) इलाहाबाद, की विशेष भूमिका रही। इन लोगों से मिले प्रोत्साहन और सहयोग के लिए मैं इनका आभारी हूँ।
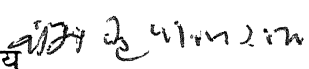
पाण्डुलिपि को सत्यापित करने में मित्र श्री राजेश कुमार यादव तथा श्री अमृत लाल शर्मा की विशेष भूमिका रही। इनके प्रति आभार उनके कार्यो के प्रति कम ही होगा। इस शोध को पूरा करवाने में डॉ० प्रेमब्रत तिवारी जी, हिन्दी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर, का सहयोग अवर्णनीय रहा है। मैं इनका हृदय से कृतज्ञ हूँ ।

इस शोध प्रबंध को त्रुटिहीन छापने में मेसर्स नितिन प्रिन्टर्स, 1, पुराना कटरा, इलाहाबाद की सराहनीय भूमिका रही है। उनके प्रति भी मेरा सादर आभार ज्ञापित है।

इसके अतिरिक्त 'संग्रहालय' हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, के समस्त कर्मचारियों के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने इस शोध कार्य के निमित्त पुस्तकें उपलब्ध कराई तथा छायाप्रति आदि कराने में सहयोग प्रदान किया। अन्त में मै उन सभी के प्रति आभारी हूँ जिन्होंने इस शोध प्रबन्ध के निमित्त सहयोग प्रदान किया।

''ॐ शिवः संकल्पम्ऽतु।''

श्रद्धानवत—
राम कृपाल राय
(शोधार्थी)
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

(1) जनवाद की अवधारणा

(क) मार्क्सवादी दृष्टि

(ख) भारतीय दृष्टि

(ग) मार्क्सवादी तथा भारतीय दृष्टियों में अन्तर

प्रथम अध्याय

जनवाद की अवधारणा

'जनवाद' से आशय है वह विचारधारा जिसमें समाज को गति देने की शक्ति निहित हो अर्थात् 'जनवाद' लोक में व्यवहृत वह मापदण्ड है, जिसमें सामान्य जन (यहाँ सामान्य जन से तात्पर्य है सर्वहारा वर्ग से) की आशाओं-आकांक्षाओं को केन्द्र में रखकर समाज को देखा जाता है। जनवादी दृष्टि अतीत की अपेक्षा वर्तमान को महत्व देती है और निश्चित निर्देश में युग को बदलने के प्रति कटिबद्ध होती है। "जनवादी शोषक सत्ता की जन-विरोधी प्रवृत्तियों, तिकड़मों तथा उसके बुनियादी अन्तर्विरोधों की सही पहचान रखता है। बेहतर समाज की रचना में विश्वास रखने की वजह से जनवादी चरित्र स्पष्ट, दृढ़ उत्साही और विशाल हृदय सम्पन्न होता है।"[1]

अत: जनवादी अवधारणा साहित्य में उन मूल्यो को लेकर चलता है जिसमें जन-विरोधी शक्ति के खिलाफ शोषित वर्ग के समर्थन का भाव समाहित हो। जन-असन्तोष के सही कारणों की पहचान करता हुआ एक ऐसे समाज के निर्माण में अपने साहित्य के भावभूमि को तैयार करता हैं, जो सबके हित की बात करता हो। जनवादी दृष्टि व्यावहारिक, सोद्देश्य और द्वन्दात्मक भौतिकवादी होती है। यह अपने समय की आर्थिक, राजनीतिक घटनाओं तथा अन्तर्विरोधों का वर्ग-संघर्ष की दृष्टि से विश्लेषण करती है। चूँकि "मनुष्य की सामाजिक चेतना और व्यवस्थाओं का विकास द्वन्दात्मक और जटिल होता है, अत: समकालीन इतिहास में घटित होने वाली घटनाओं की वैज्ञानिक व्याख्या के लिए समकालिक विश्व की ऐतिहासिक प्रक्रिया को अनिवार्य परिणाम के रूप में लेना पडता है और विशिष्ट घटना की वास्तविक प्रवृत्ति की सही पकड के लिए उसे बीते इतिहास से

---

1 जनवादी समझ और साहित्य, राम नारायण शुक्ल पृ० 1।

जोड़ना पड़ता है। बीते युग के अनुभवो से युगीन अन्तर्विरोध की पहचान ठोस होती है और वर्तमान के तीक्ष्ण-जटिल वर्ग संघर्षो से सीधा संबंध स्थापित करने में सहायता मिलती है।"[1]

अत: जनवादी दृष्टि प्रगतिशील होती है। पूंजीवाद के उदय के साथ ही सामंतीय व्यवस्था चरमराने लगी और जो पूंजीवादी क्रान्ति सर्वहारा वर्ग के एकजुट प्रयास की परिणति थी- वही पुन: सामंती विचारधारा के अनुसार अपने चरित्र का सृजन करने लगी। जन की आशा और आंकाक्षा वहीं की वहीं दबी रह गयी। कार्लमार्क्स की यह टिप्पणी नि:संदेह इसी बात की पुष्टि करती है, 'पूँजीवाद अपनी सेवा के लिए आदमी को प्रशिक्षित बन्दर की शक्ल देने की कोशिश मे पूरा विशाल कारखाना बन गया।"

जनवाद शब्द मुख्यत: मार्क्सवादी सिद्धान्त का शब्द है जिसमें जन से आशय है- निम्न वर्ग जो दलित, शोषित तथा निर्धन हैं। यहाँ जन से आशय 'आम जनता' से नहीं है। प्राचीन काल में जन-'आम आदमी' के लिए प्रयुक्त होता था, लेकिन आधुनिक काल में मार्क्सवादी विचारकों ने 'जन' शब्द का प्रयोग मात्र उस वर्ग के लिए किया जो श्रमिक वर्ग है। मार्क्स के विचार धारा पर आधारित यह 'वाद' अपने साहित्य में मनुष्य के उसी रूप तथा समाज का चित्रण करता है जिसमें आम आदमी की भावनाएं तथा मूल्य निहित हों। यहाँ आम आदमी से आशय निर्धन तथा श्रमिक वर्ग से है।

जनवादी लेखकों का दृष्टिकोण सर्वहारा और आम आदमी का दृष्टिकोण है। जनवादी लेखक एक मात्र सर्वहारा वर्ग के नजरिये से ही विश्व इतिहास के प्रति अपनी दृष्टि को रेखांकित करता है। इस प्रकार जनवादी साहित्य का काम आम आदमी के नजरिये से विश्व को देखना, विश्लेषित करना, संघर्षो में एकजुट होना और उसे कलात्मक अभिव्यक्ति देना है।

---

1 वही पृ० 2

अत: जनवादी कथाकार मालिक-मजदूरों की रहन-सहन, बोलचाल, विवेक- ज्ञान आदि को उनके वर्गीय जीवन विशेषताओं को केन्द्र में रखकर रचना का रूप निर्धारित करता है। वह रचना को निरपेक्ष भाव से रचने का नाटक नहीं करता, बल्कि सचेतन रूप से अपने को मजदूर वर्ग से प्रतिबद्ध करता है। वह अच्छी तरह जानता है कि निम्नवर्ग जैसा है, उसके पीछे मुख्य कारण सामत वर्गीय व्यवस्था है और लेखक के सचेत होने के पहले से ही सांमत तथा निम्न वर्ग मे संघर्ष चल रहा होता है। अस्तु जनवादी रचनाकार का दायित्व और बढ़ जाता है— क्योकि वह समाज का सजग, सेवंदनशील और बुद्धिजीवी सदस्य है। वह नये समाज की रचना के सिद्धान्त और प्रतिक्रिया के बारे पूर्ण रूप से विज्ञ है और यह विज्ञता आम आदमी से जुडने के बाद ही मिलती है।

इस प्रकार जनवादी साहित्य वही है जो जन सामान्य की भावनाओं को स्पर्श करती हुई एक ऐसे नये समाज की कल्पना या निर्माण में संलग्न हो- जो सर्वहारा वर्ग के जीवन मूल्यों को निर्धारित करता हो। उन्हे भी जीने की सबल प्रेरणा देता हो।

जनवादी रचनाकारों की रचनाओं में देश की समूची जनता और आर्थिक-राजनीतिक स्थितियाँ होती हैं। यूनान की कला साहित्य की गोष्ठी में माओत्सेतुंग ने जनवादी रचना पर प्रकाश डालते हुए कहा कि : ''क्रान्तिकारी कला और साहित्य को चाहिए की वह वास्तविक जीवन से ही विभिन्न प्रकार के पात्रों का निर्माण करे तथा इतिहास को आगे बढ़ाने में जनता की मदद करे। मुट्ठी भर प्रतिक्रियावादी चरित्र हो या विजय तक के लिए संघर्ष करता हुआ विशाल सर्वहारा, दुमुँहा मध्यमवर्ग हो या भ्रष्ट नौकरशाह, और इनके अतिरिक्त आम जनता के सभी हिस्से जनवादी रचना की वस्तु है। क्रान्तिकारी कला साहित्य क्रान्तिकारी लेखकों और कलाकारों के मस्तिष्क पर पड़ने वाले जन जीवन के प्रतिबिम्बों की उपज होता है। जनता का जीवन साहित्य और कला के लिए कच्चे माल की एक खान है, एक ऐसा कच्चा माल, जो अनगढ़ होते हुए भी अत्यन्त सप्राण, समृद्ध और मौलिक है। वह साहित्य और कला का अनन्त स्रोत है, उसका एक मात्र स्रोत है।''

अत: उपरोक्त कथन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जनवादी रचनाकार अपने समय के समाज को देखता हुआ, उससे साक्षात्कार करता हुआ, उन्हीं मूल्यों को साहित्य का विषय बनता है जो जन-सामान्य की संघर्ष के एकजुट प्रयास को प्रतिबिम्बित करता है और समाज को एक दिशा देता है।

अस्तु निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि जनवादी साहित्य जनवादी क्रान्ति के विकास की मंजिल से एकजुट और समरूप होकर ही विकसित होता है। आम आदमी की संभावनाओं को रेखाकित करता जनवादी साहित्य उसकी दृढ विश्वासमयी कृत्य और उससे निकलने वाले परिणाम की ओर भी प्रगतिशील दृष्टि से इशारा करता है।

अत: जनवाद की अवधारणा को और स्पष्ट करने के लिए उसके वैचारिक दृष्टि का विवेचन मार्क्सवादी दृष्टि तथा भारतीय दृष्टि को केन्द्र में रखकर आगे किया गया है—

(क) मार्क्सवादी दृष्टि

मार्क्सवादी विचारधारा एक भौतिकवादी दर्शन (Materialist Philosophy) है, जो परंपरागत भाववादी दर्शन (Idealistic philosophy) की अमूर्त और आध्यात्मिक स्थापनाओं के विरोध में प्राकृतिक विज्ञान (Natural science) की नव्यतम निष्पतियों और खोजों को आधार बनाते हुए प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक हेगेल (Hegel) की द्वन्द्वात्मक पद्धति (Dialetical Method) को भौतिकवादी चिन्तन के संदर्भ में ग्रहण कर, सर्वहारा वर्ग के दर्शन (Philosophy of the proleterial) के रूप में 19वी सदी में जन्मा और पुष्ट हुआ। इसके प्रवर्तन का श्रेय सर्वहारा वर्ग के महान चिन्तक कार्लमार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स (Karl Marx and Fredrick Engels) को है। इसके अतिरिक्त वी०आई० लेनिन (V I Lenin), जिन्हे मार्क्सवाद के प्रामाणिक व्याख्यता का गौरव प्राप्त है, के विचारों ने इस क्रान्ति को वैचारिक स्तर पर पुष्ट तथा प्रमाणित किया।

अत: चूंकि मार्क्सवादी विचार धारा भाववादी दर्शन के विरोध का परिणाम है तो संक्षिप्त रूप मे भाववादी दर्शन के तथ्यों को भी हम रेखांकित करना चाहेगें —

भाववादी दर्शन —

भाववादी दर्शन आत्मा की प्राथमिकता को स्वीकार करता है जबकि भौतिकवाद आत्मा की अपेक्षा प्रकृति को प्राथमिकता देता हैं।[1] मूर्त या प्रकृति की प्राथमिक सत्ता को स्वीकार न कर आत्मतत्व, चेतना या ईश्वर को सृष्टि का कारण, कर्ता और नियंता मानना भाववादी दर्शन की केन्द्रीय अवधारणा है। कालान्तर में समय के साथ इस दर्शन को भी प्रबुद्ध चिन्तकों ने अपने-अपने सिद्धान्त के अनुसार विवेचित किया जिसमें देकार्त, प्लेटो, लाइबनिज तथा हेगेल आदि प्रमुख है।

---

1 'Those who asserted the primacy of spirit to nature comprised the camp of Idealism The others who regarded nature as primary belong to the various schools of materialism"—Engels-Karl Marx - Selected work Vol-I, Ibid pp 431

प्लेटो सृष्टि के मूल में प्रत्यय (Idea) की स्थिति को स्वीकार करते हैं और इस प्रत्यय जगत को भौतिक जगत् के परे अपनी वस्तुगत सत्ता से सम्पन्न घोषित करते हैं। भाव जगत उनके विचार से प्रत्यय जगत् की नकल है। इस नकल में सत् और असत् दोनों का अंश है।[1]

जर्मन दार्शनिक लाइबनिज भी सृष्टि के नियंता के रूप में ईश्वर को मानता है, जो 'निरवयव, अविभाज्य, तात्विक और चेतन है। हेगेल का द्वन्द्ववाद इस दर्शन को बेहतर ढग से व्याख्यायित करता है। जिसे विकासवाद के नाम से भी संबोधित किया जाता है। हेगेल ने संसार को द्वन्द्वात्मक संबंध तथा परस्पर निर्भरता के रूप मे स्वीकार किया।[2]

हेगेल ने द्वन्द्ववाद के केन्द्र मे तीन बिन्दुओं को प्रमुख माना — (1) प्रतिपक्षों की एकता और संघर्ष का नियम (2) मात्रा के गुण में संक्रमण का नियम और (3) निषेध के निषेध का नियम। इन्हीं तीन नियमों के आधार पर हेगेल के विकास की अवधारणा का मूलाधार केन्द्रित है।[3]

हेगेल निषेध में ही विकास की शक्ति को रेखांकित करते हैं और यह विकास त्रिस्तरीय आयामों पर आधारित होता है— पक्ष (Thesis), प्रतिपक्ष (Anti Thesis) तथा संश्लेषण (Synthesis)। अत: पक्ष में प्रतिपक्ष समाहित है और जब असंगति होती है तब तीसरा पक्ष संश्लेषण अर्थात् अन्तर्विरोध जन्म लेता है। मार्क्स तथा एंगेल्स ने हेगेल के द्वन्द्ववाद की स्थापनाओं को नि:संकोच रूप से स्वीकार किया। मार्क्स ने अपने 'पूँजी' (Capital) नामक ग्रंथ में लिखा है कि 'हेगेल के हाथों मे द्वन्द्ववाद पर रहस्य का आवरण

---

1 मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन — डॉ० शिवकुमार मिश्र पृ०-7।

2 "As Mark said, Hegel's Dialectics was 'Standing on its head", To be correctly conceived, Dialectics had to be put on its feet This Marx and Engels did " fundamentals of Marxism Leninism Moscow 1961, p 68

3 दर्शन के इतिहास की रूपरेखा, इ० ख्ल्याविच, प्रगति प्रकाशन, मास्को पृ० 84।

पड़ जाता है, लेकिन इसके बावजूद यह सही है कि हेगेल ने ही सबसे पहले विस्तृत और सचेत ढग से यह बताया था कि अपने सामान्य रुप में द्वन्द्ववाद किस प्रकार कार्य करता है।[1]

इस प्रकार अनेक विवेचनाओं के पश्चात् भाववादियों ने 'ईश्वर' या 'शक्ति' को केन्द्र में रखा जिसके विरोध के परिणाम स्वरूप भौतिकवादी दर्शन खड़ा हुआ, जिसमें वस्तु को स्वतंत्र रूप में स्वीकार किया और सृष्टि के कर्ता के रूप मे किसी दैवी शक्ति की धारणा को अस्वीकृत किया गया।

भौतिकवादी 'दर्शन' में पदार्थ एव आत्मा में 'पदार्थ' को प्राथमिकता दी गयी तथा परमाणुवाद के सिद्धान्त को आधार बनाया गया। **चिन्तन** के द्वन्द्वात्मक पद्धति को ग्रहण करते हुए प्रकृति के आधारभूत विकास नियमों को केन्द्र मे रखा गया। ई0 ख्ल्याविच के अनुसार ''परवर्ती काल में भौतिकवादियों ने अस्तित्व की सामान्य समस्याओं की ओर वस्तु संरचना, भौतिक गुणों और अस्तित्व के रूपों से संबधित अनेक प्रश्नों की भी व्याख्या की। इस प्रकार भौतिकवादी सिद्धान्तों मे प्रकृति की द्वन्द्ववादी धारणा के तत्व एक नये वैज्ञानिक आधार पर प्रकट होने लगे।''[2]

भौतिकवादी चिन्तन को मार्क्स तथा एंगेल्स ने एक प्रगतिशील वैज्ञानिक दर्शन के संदर्भ में नया अर्थ तथा नयी जीवन्तता प्रदान की। 'पदार्थ' को अधिक स्पष्ट करते हुए उसे प्राथमिक तत्व के रूप में विवेचित किया और चेतना को पदार्थ या मूर्त का एक विशेष गुण (Property) माना। पदार्थ को सदैव परिवर्तन की विभिन्न दशाओं के रूप में मानते हुए मूर्त जगत की अनेकता को स्वीकार किया और सारी अनेकता के बीच भौतिक जगत की एकता को स्वत: प्रमाणित सिद्ध किया। एंगेल्स कहता है कि ''संसार की वास्तविक एकता का आधार और कुछ नहीं, उसकी भौतिकता है।''[3]

---

1 हिन्दी सस्करण- प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1965 खण्ड 1 पृ० 20।

2 दर्शन के इतिहास की रूप रेखा, पृ0 95।

3 "The unity of the world does not consist in its being the real unity of the world consists in its

अत: वस्तु जगत् का वास्तविक आधार पदार्थ को मानते हुए उसकी गतिशीलता को सतत् क्रियाशील मानते हुए कहा कि : गति पदार्थ के अस्तित्व की एक विधि है। न तो बिना गति के कहीं पदार्थ का अस्तित्व रहा है और न ही रहेगा। वस्तुत: बिना गति के पदार्थ का अस्तित्व सभव नहीं है और न ही बिना पदार्थ के गति के अस्तित्व की कल्पना की जा सकती है।''1

इस प्रकार पदार्थ गतिशील ही नही रहता बल्कि उसकी कई दशाएं होती हैं, मसलन गति के कई रूप जैसे— पदार्थ का विकसित रूप, उसका परिवर्तित रूप, नये तत्वो से संयुक्त उसका उच्चस्तरीय रूप। गतिशीलता ही सत्य है। कोई भी वस्तु पूर्ण और शाश्वत नहीं है, केवल गति ही पूर्ण और शाश्वत है।''2

अत: भौतिकवादी दर्शन में गतिशीलता को पदार्थ का गुण मानते हुए दिक् या देश को भी पदार्थ के अस्तित्व की सार्वभौमिक (universal) विधि के रूप में स्वीकार किया गया। ये दिक् तथा काल भी निरपेक्ष न होकर परस्पर अंतर्ग्रथित है तथा गतिशील मूर्त तत्व से इनका बिलगाव एक क्षण के लिये भी संभव नहीं है।3

---

materiality and this is proved by a long and protracted development of Philosophy and Natural Science - Engels-Anti-Duhring "

1 "Motion is the mode of existence of matter Never any where has there been matter without motion, nor can there be   Matter without motion is just as unthinkable as motion without matter "- I did

2 "As a mode of existence of matter , motion embraces all the processes and changes taking place in the universe Among these changes, a specially important part is played by the processes of development of matter, the passage of matter from one state to another higher state, marked by new features and properties There are no permanently fixed, ossified things in the world, only things undergoing change, processes This means that no where is there absolute rest, a state that would preclude motion There is only relative rest   only motion is absolute without exception

- Fundamentals of Marxism- Leninism F L P H Moscow- 1961, p 35

3 The basic forms of all beings are space and time and existence out of time is just as gross an

मार्क्स और एंगेल्स द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक भौतिकवाद के अन्तर्गत मूर्त या पदार्थ तत्व को प्राथमिक तथा चेतना को गौण माना गया है क्योंकि वे चेतना को पदार्थ का ही एक विशेष गुण मानते हैं। लेनिन के अनुसार- ''मानव मस्तिष्क अथवा पदार्थ से स्वतंत्र चेतना का वस्तुगत अस्तित्व स्वीकार करना, एक गलत कदम, भौतिकवाद और भाववाद को गड्डमड्ड कर देने वाला एक गलत कदम होगा।''[1]

इस प्रकार भौतिकवादी स्थापनाओं के बाद मार्क्स और मार्क्सवाद के व्याख्याताओ ने इसे प्रगतिशील और वैज्ञानिक दर्शन की संज्ञा दी है। मार्क्सवादी संसार को उसके वस्तुगत रूप में ही देखता, परखता और स्वीकार करता है। मारिस कार्नफोर्थ के अनुसार -'' वह पुराना प्रश्न जिसे दार्शनिक लोग पूछा करते थे अर्थात- वास्तविकता का अंतिम स्वरूप क्या है- भौतिकवादी दृष्टिकोण के बाद निरर्थक हो जाता है। इसके बजाय दर्शनशास्त्र का काम हो जाता है विज्ञान के साथ घनिष्ठ संबंध स्थापित करना और वैज्ञानिक विचारधारा के मूलभूत सिद्धान्तों के बारे में जिज्ञासा करना और उनका स्पष्टीकरण करना तथा यह देखना कि इन्हें मानवता की भलाई के लिए कैसे सर्वोत्तम ढंग से लागू किया जा सकता है।''[2]

अत: मार्क्सवादी दर्शन उक्त सदर्भो मे ही अपने प्रगतिशील विचार को प्रेषित करता है। 'शाश्वत सत्य' को मनुष्य का मात्र भ्रम मानते हुए उसके जीवन के प्रति सोच को वैज्ञानिक व्याख्या से जोड़ता है और यथार्थवादी दृष्टि को प्रस्तुत करता है। परलोक की परिकल्पना को झूठ मानते हुए मार्क्सवाद के सिद्धान्त को निष्कर्ष रूप में व्यक्त करते हुए डॉ0 शिव कुमार मिश्र व्यंग्यात्मक शैली में लिखते हैं कि : लोक मे सुख और शान्ति पाने वाली

---

absurdity as existence out of space

- Engels - Anti-Duhring

1 "To say that thought is material is to make a false step, a step towards confusing materialism and Idealism"- Materialism and Empiriocriticism

2 मार्क्सवादी दर्शन - पीपुल्स बुक हाउस लखनऊ प्रथम सस्करण- जून 1961, पृ0 73।

बात धार्मिक प्रतिष्ठानों के स्वामी सत्ताधारी वर्ग द्वारा महज इस कारण प्रचारित की जाती है ताकि मनुष्य इस लोक में उसके द्वारा चलाये गये समूचे शोषण चक्र को एक दैवी विधान के रूप में स्वीकार करता रहे, उसके द्वारा होने वाले अपने शोषण तथा उत्पीड़न को पूर्व जन्म का फल समझे और उस शोषण चक्र तथा उस पर आधारित समाज व्यवस्था को नियमित मानकर समाप्त करने और बदलने के बजाय इस लोक से उदासीन होकर परलोक में सुख शाति पाने के प्रयास में ही अपनी सारी शक्ति और क्षमता को नि:शेष कर दे।[1]

अत: परलोक की कल्पना मनुष्य मात्र के लिए एक धार्मिक शोषण के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता है। भौतिकवाद के अनुसार 'मनुष्य प्रकृति का सर्वोत्तम कृति है।' मानवीय व्यक्तित्व, मानवीय मेधा, मानवीय क्षमता, एव ज्ञान की निरभ्र, वैज्ञानिक आकृति के प्रति आस्था दार्शनिक भौतिकवाद की सारभूत विशेषताएं हैं, जो उसे मात्र संसार को व्याख्यायित करने वाले दर्शन के रूप में ही नहीं, संसार तथा समाज को बदलने वाले दर्शन के रूप में भी प्रतिष्ठापित करती हैं।[2] इस प्रकार मार्क्सवाद संसार तथा मनुष्य जीवन का वास्तविक मूल्यांकन करता हुआ उसे सत्य की मार्ग की पहचान कराता है।

मार्क्सवादी चिन्तन के उपरान्त मार्क्सवादियों का साहित्य के क्षेत्र में भूमिका भी उनके चिन्तन परम्परा की ही कड़ी के रूप में देखी जा सकती है। मार्क्स तथा एंगेल्स का साहित्य चिन्तन पर कोई पृथक ग्रंथ उपलब्ध नहीं है लेकिन प्रंसगानुनार अपने सिद्धान्त की व्याख्या के दौरान उनके लेखों में साहित्य पर भी अप्रत्यक्ष रूप से विचार उभर कर आये और साहित्य तथा कला के बारे में एक नयी समझ तथा नयी दृष्टि का विकास हुआ। पश्चिमी विद्वान राबर्ट ट्यूकर (Robert Tucker) के अनुसार - ''ज्ञान की ऐसी कोई

---

1 मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन, मार्क्सवादी दर्शन पृ0 38।

2 वही पृ0 38।

महत्वपूर्ण शाखा नहीं है, जो मार्क्सवादी चिन्तन व्यवस्था की अन्तर्ग्रन्थित समग्रता का अंग न बन सकती हो।''1

अत: मनुष्य जीवन के समग्र मूल्याकन को मार्क्सवाद रेखांकित करता है और मार्क्सवादी साहित्य तथा कला संबंधी चिन्तन पर"ए कन्ट्रीब्यूशन टु दी क्रिटीक आफ पोलिटिकल इकानोमी'' (A contribution to the critique of Political Economy) नामक पुस्तक की प्रस्तावना में मार्क्स ने प्रकाश डालते हुए लिखा कि- समाज के आर्थिक आधार मे परिवर्तन के साथ सम्पूर्ण विशाल वाह्य संरचना की कमोवेश उसी तेजी के साथ रूपांतरित हो जाती है। इस प्रकार के रूपांतरों पर विचार करते समय उत्पादन की आर्थिक स्थितियो, जिन्हें प्राकृतिक विज्ञान की सूक्ष्मता के साथ निर्धारित किया जा सकता है और न्यायिक, राजनीतिक , धार्मिक, कलात्मक या दार्शनिक रूपों के बीच, जिनमें मनुष्य इस संघर्ष के प्रति सचेत रहता है और उसमें विजय प्राप्त करना चाहता है, फर्क करना आवश्यक है।2

साहित्य एवं कला संबंधी मार्क्सवादी मन्तव्य को स्पष्ट करने के लिए इस कथन को प्राय: उद्धृत किया जाता है। उपरोक्त कथन में मार्क्स ने राजनीति, धर्म, दर्शन के अतिरिक्त साहित्य को भी विचारधारा के रूप में स्वीकार किया है। दूसरे, उन्होंने साहित्य को भी भौतिक धरातल से ही उद्भूत तथा नियत माना है। तीसरे, समाज में आर्थिक एवं भौतिक धरातल पर परिवर्तन के साथ ही समूची वाह्य संरचना तेजी के साथ रूपांतरित हो जाती है। चौथे, इस रूपान्तरण में प्रत्येक बिन्दुओं पर फर्क आवश्यक है और पॉंचवें सामाजिक जीवन के विकास में साहित्य एवं कला का भी योगदान निहित है।

---

1 Reter- (Mark in changing perspective)- Introduction 'Philosophy and Myth in Karl Mark, p 22

2 Literature and Art - K Mark and F Engels current Book House, Bombay-1, 1956, p 1

अतः मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन उपरोक्त स्थापनाओं के आधार पर ही सामाजिक जीवन के अन्तः संबंधों तथा अन्तर्द्वन्द्वों की जॉच-पड़ताल करता है।

मार्क्सवादी दर्शन के चिन्तन का विषय व्यावहारिक जगत् और जीवन की वास्तविकता से साक्षात्कार का है। वह मनुष्य को केन्द्र में रखकर मानवीय सम्बंधों की जॉच करता हुआ संसार तथा समाज को बदलने का दावा भी करता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और ऐतिहासिक भौतिकवादी चिन्तन दृष्टि से भाववादी दर्शन की एक समूची विचारधारा के विरोध में मार्क्सवादी विचारधारा ने साहित्य के नये मापदण्डों को स्थापित किया, जिसमें शोषित समाज उसका विषय बना। मानव जीवन और सामाजिक जीवन के विकास के संदर्भ में पहली बार साहित्य और कलाओ का सम्बंध विशुद्ध मानवीय प्रयासो के साथ जुड़ा और मार्क्सवादी चिन्तन मानवीय सर्जना का केन्द्र बिन्दु के रूप में उभर कर सामने आया।

मार्क्सवादी विचारधारा ने समूचे विश्व के बुद्धिजीवियों को अपनी ओर आकर्षित किया तथा समूचे विश्व में साहित्य रचना तथा चिन्तन की एक नयी परम्परा का सूत्रपात हुआ। मार्क्सवादी साहित्यिक चिन्तन को जिन मर्मज्ञों ने अपने साहित्य का विषय बनाया तथा नवीन स्थापनाएं दी, उसमें जी0 वी0 प्लेखानोव, ए0 बी0 लूनाचरस्की, मैम्सिम गोर्की, इलिया एहरेनबुर्ग जैसे रूसी बुद्धिजीवियों के साथ इंग्लैण्ड के क्रिस्तोफर काडवेल, राल्फ फॉक्स, जार्ज थॉम्पसन, अमेरिका के हावर्ड फास्ट, वी0 जे0 जेरोम, एडमण्ड विल्सन, हंगरी के जार्ज लूकाच, आस्ट्रिया के अर्न्स्ट फिशर, फ्रान्स के रोजर गेरेउदी, चीन के चाऊ यांग आदि की महत्वपूर्ण भूमिका रही।

उपरोक्त साहित्यकारों, दार्शनिको की विचारधारा से गुजरता हुआ मार्क्सवादी चिन्तन समाज के दलित वर्ग के उत्थान, वर्गहीन समाज तथा पूंजीपतियों के विरोध संबंधी दृष्टि को ही अपने साहित्य से जोड़ा। उनका मानना है कि साहित्यकार समाज से पृथक व्यक्तिवादी

विचारधारा से संपृक्त रह कर समाज का कल्याण नहीं कर सकता। इस संबंध में जदानोव द्वारा सन् 1934 में अखिल रूसी लेखक संघ में दिया गया भाषण साहित्य को श्रमिक जनता से जोड़ता है : ''कलात्मक बिम्ब की सच्चाई तथा यथार्थता इस बात में निहित है कि वह वैचारिक रूपांतरण और श्रमिक जनता को समाजवाद में दीक्षित करने के काम से जुड़ जाय। उपन्यास और साहित्य समीक्षा का समाजवादी यथार्थवाद यही है।''

कविता और कला संबंधी विचार में मार्क्सवादी चिन्तकों ने बिम्बधर्मिता को प्राथमिकता देते हुए उसकी संप्रेषणीयता पर विशेष जोर दिया। कविता और कला संबधी मार्क्सवादी विचारधारा पर मत व्यक्त करते हुए डॉ0 शिव कुमार मिश्र लिखते हैं कि : कविता या कला मनुष्य के बीच संपर्क का साधन है। कविता हृदयों को जोडने वाली इकाई है, वह एक ऐसा साधन है जो एक मनुष्य को दूसरे मनुष्यों के निकट लाकर उनके हृदयों को अभिन्न कर देती है। यद्यपि मार्क्सवादी विचारकों ने कविता या कला की स्वरूप चर्चा के इस क्रम में प्राय: भावप्रवण दृष्टिकोण का परिचय दिया है परन्तु उनकी यह मूलभूत निष्पति कि कविता मनुष्य और मनुष्य के बीच संपर्क का साधन है, उनके दृष्टिकोण को भावप्रवण भूमिका के साथ उसकी बौद्धिकता से पूरी तरह जुड़ी हुई है। यह कविता का मूल चरित्र है, इसके बिना कविता, कविता नहीं रह सकती।[1] कविता के इसी स्वरूप की पुष्टि परवर्ती मार्क्सवादी चिन्तकों ने भी की है।[2] फिशर ने तो साहित्य, कविता एवं कला का मूलवर्ती चरित्र खण्डित मनुष्य को पूर्ण मनुष्य के रूप में बदलने मे माना है।

---

1 मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन पृ0 359।

2 "Poetry is perhaps the sole form of man's direct communism with man The strength of poetry lies in the fact that it tears as under all the obstacter between people and at once goes to a man's heart

- Boris Suchkov Soviet literature, Vol 3, 1967

अत: कविता और कला को यथार्थ अभिव्यक्ति का प्रथम गुण मानते हुए मार्क्सवादी चिन्तकों का विचार है कि साहित्य एवं कला में चित्रित यथार्थ मात्र अपने तात्कालिक या वर्तमान संदर्भ संयुक्त यथार्थ ही नहीं होता, वरन् अतीत एवं आगत की संभावनाओं से पुष्ट समग्र यथार्थ होता है। इस प्रकार साहित्य की समग्रता वर्तमान से साक्षात्कार करता हुआ अतीत तथा आगत से जुडकर यथार्थपरक दृष्टि की अभिव्यक्ति में निहित है। मार्क्सवादी चिन्तन ने साहित्य और कला चिन्तन में यथार्थवादी दृष्टि को सौन्दर्य शास्त्र से जोड़कर एक नयी दृष्टि दी जिसमें सभी नियम कानून समाज के व्यवस्थित ढांचे के निर्माण में लगे रहते हैं।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि मार्क्सवादी अवधारणा में साहित्य और कला जीवन के दूसरे बुनियादी पक्षों से स्वतंत्र नहीं, वरन् उनका ही एक अंग है और जीवन के दूसरे बुनियादी प्रश्नों से काटकर उनके महत्व का एकांत मूल्यांकन नही किया जा सकता।

साहित्य और कला चूँकि सामाजिक जीवन से संचालित तथा रूपायित होती है तथा अपना स्वरूप ग्रहण करती है तो स्वाभाविक है कि उसका मूल्यांकन भी सामाजिक या समाजशास्त्रीय होगा। सामाजिक विकास को केन्द्र मे रखकर ही साहित्य के जीवन्तता की बात की जा सकती है। काडवेल के अनुसार, 'साहित्य एवं कला के मूल्यांकन का अर्थ उन्हें बाहर से देखने का प्रयास है और बाहर औरकुछ नहीं, केवल समाज है। अत: साहित्य एवं कला के मूल्यांकन का आधार समाजशास्त्रीय ही हो सकता है। न तो कृति समाज से परे, न कृतिकार और न उनका पाठक, तब मूल्यांकन का प्रतिमान ही नितांत निजी अर्थात सामाजिक जीवन से पृथक कैसे हो सकते है?'[1]

---

1 मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन, डॉ0 शिव कुमार मिश्र पृ0 457।

व्यक्तिवादी तथा कलावादी रूपवादी अवधारणाओं को दृढ़ता पूर्वक खण्डित करते हुए मार्क्सवादी चिन्तकों ने व्यक्तिवाद को पूंजीवादी व्यवस्था की असंगतियों तथा अंत:विरोधो से जोड़ते हुए उसे समाज के लिए घातक माना। मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जिसकी समूह के बिना कल्पना, उसके जीवन से परे की कल्पना है। उसका विकास इस बात का द्योतक है कि वह सामूहिक चेतना का ही परिणाम है। पूंजीवाद इस सामूहिक चेतना को नष्ट करके पूरे समाज को अंधेरी दिशा की ओर झोंक देता है और मनुष्य, मनुष्य के बीच में भेदत्व उत्पन्न करता है।

अत: यथार्थ को केन्द्रीय महत्व प्रदान करता हुआ मार्क्सवाद उसे मनुष्यता के सभी स्त्रोतों से जोड़कर देखता है। जो साहित्य या कला यथार्थी जीवन से जितनी दूर होती है उसकी सत्यता उतनी ही अकल्पनीय होती है। यथार्थ के प्रति निष्ठा ही रचनाकार या कलाकार को सत्य के प्रति एक निष्ठ बना सकती है।

इस प्रकार मार्क्सवादी रचनाकार क्षणवादी जीवन मूल्यों का तिरस्कार करता हुआ ह्रासशील जीवन मूल्यों के सिर पर अपनी अप्रतिहत आस्था को प्रतिष्ठित करता है और हताशा, निराशा, पराजय भय और सर्वग्रासी विषमता के बीच से ही उसे खींचकर निकालता है। इतिहास की द्वन्द्ववादी समझ के बल पर यथार्थ की समग्रता का मूल्यांकन ही मार्क्सवाद का केन्द्रीय तत्व है।

मार्क्सवादी दर्शन न तो अतीत का दर्शन है और न भविष्य का ही कोई यूटोपिया (Utopia) अथवा स्वप्न दर्शन है। वह वर्तमान के जीवित संदर्भो को स्वीकार करने वाला, उन्हीं के बीच संघर्षशील और उसे बदलने की चेष्टा करने वाला और उसे बदलने वाला दर्शन है।[1]

---

1 मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन, डॉ0 शिव कुमार मिश्र, पृ0 461।

अतः अतीत का उपयोग अपनी समझ को विकसित करने हेतु करता हुआ मार्क्सवादी लेखक वर्तमान में जीता है और एक बेहतर समाज की कल्पना करता हुआ समुचित दिशा निर्देश भी देता है। राल्फ ने अपनी कृति **'उपन्यास और लोक जीवन'** में इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि : कवि या उपन्यासकार मृत संपत्ति का उत्तराधिकारी नहीं है । वह अतीत का उपयोग करता है, न केवल खुद अतीत को ही बदलने के लिए बल्कि वर्तमान को भी बदलने के लिये। सस्कृति एक ऐसी चीज है जिसे हमें जीवन के अमल को गहरा बनाने के काम मे लाना है। वह केवल सौन्दर्यानुभूति में डूबने - उतराने का चीज नहीं है। .. हम अतीत को उसी रूप में परखते हैं जिस रूप में कि हमें जीवन उसे परखने के लिए बाध्य करता है और हमारा यह जीवन न केवल हमारी विरासत से ही, बल्कि हमारे अपने समय के वर्ग संघर्षो तथा आवेगों-आवेशों से भी निर्धारित होता है। प्रत्येक नयी कृति में होने वाले परिवर्तन भी इन्ही ताकतों से निर्धारित होते हैं। हम केवल अतीत को ही नही देख सकते। हमें पहले वर्तमान को देखना है जो सदा परिवर्तन की प्रक्रिया मे से गुजरता रहता है।[1]

राल्फ फॉक्स का यह विवेचन मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन के आधुनिक बोध को उद्घाटित करता है। मनुष्य में भी विशिष्ट मनुष्य नहीं बल्कि सामान्य मनुष्य जो शोषित और पीड़ित है, को केन्द्र में रखकर उसके संघर्षो और क्रियाशीलता को रेखांकित करता है और अपने सृजन में उसे नायक के रूप में प्रतिष्ठित करते हुये उसे पूर्णता प्रदान करता है। **मनुष्य के प्रति यह दृष्टि मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन की जनवादी मानवतावादी आकृति का प्रमाण है, जो उसे दूसरी साहित्य दृष्टियों से विशिष्ट बनाती है।** यही मार्क्सवाद के जनवादी तत्व की पहचान है, जो वर्ग चेतना की हिमायत करता हैऔर वर्ग संघर्ष को प्रखर बनाने की बात करता है अपनी वर्गवादी भूमिका के कारण नहीं, वरन इसलिए कि वह वर्गो को मिटाने का, वर्ग-संघर्ष को समाप्त करने का, वर्गहीन मानव समाज की स्थापना का हिमायती है।[2]

---

1 उपन्यास और लोक जीवन, पी0पी0एच0 दिल्ली, पृ0 144-145।

2 मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन, कुछ निष्कर्ष, डॉ0 शिव कुमार मिश्र, पृ0 463।

मार्क्सवाद का यह मानना है कि समाज में वर्ग-संघर्ष वर्गो की सृष्टि आदि के पीछे सामंत वर्ग का हाथ है, जो शोषण मूलक समाज व्यवस्थाओं को स्थापित करना चाहते हैं। मार्क्सवाद इसके विपरीत इसके समाप्त होने में ही मनुष्यता और मानवता को देखता है। उसकी सोच कुण्ठा रहित, शोषण रहित, वर्गरहित समाज में समरसतावादी मूल्यों को स्थापित करने में है। वस्तुतः मार्क्सवाद की जनवादी अवधारणा भी यही है।

(ख) भारतीय दृष्टि :-

सन् 1917 की रूस की समाजवादी क्रान्ति ने एशिया के दो सर्वाधिक घने जनसंख्या वाले राष्ट्रों - चीन और भारत को विशेष रूप से प्रभावित किया - जिसकी अभिव्यक्ति राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि रूप में उभर कर सामने आयी।

जनवादी अवधारणा जिसके केन्द्र में 'जन' अर्थात सामान्य वर्ग है, के प्रति भारतीय साहित्य में अभिव्यक्ति प्रगतिशील विचारधारा के रूप में हुई। छायावादी मधुचर्या या स्वप्न लोक में विचरण करता हुआ कवि साहित्यकार ऊबने लगा तथा यथार्थ की भावभूमि पर उतर कर मनुष्य के वास्तविक सुखः दुख से परिचय प्राप्त करता हुआ जीवन के साथ संघर्ष करते हुऐ मनुष्य के भावावेगों और सवेदनाओं के साथ रोटी की वास्तविक पीड़ा को अपने साहित्यिक चिन्तन का विषय बनाया और परतंत्रता के मूल में आर्थिक शोषण और विपन्नता को प्रमुख माना। 1947 ई० के आस-पास भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने 'जनवादी' नामक एक प्रकाशन भी किया था जिसमें सर्वहारा, प्रगतिशील तथा जनवादी साहित्य को केन्द्र में रखकर विवेचना की जाती थी।

भारतीय दृष्टि मार्क्सवादी चिन्तन की मुख्य दृष्टि 'अर्थ' को केन्द्र में तो रखता है, लेकिन 'काम' को उतनी प्रमुखता नही देता, जितनी की मार्क्सवादी दृष्टि। हिन्दी साहित्य में मार्क्सवादी समाजवादी विचारों का प्रवेश वैसे सन् 1930 के आस पास माना जाता है। लेकिन उसकी झलक हमें भारतेन्दु युग से ही स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ती है। आचार्य राम

चन्द्र शुक्ल के विचार, जिसमें साहित्य के वैज्ञानिक स्वरूप की झलक-प्रगतिशीलता को लिए दिए-जनता के हित के चिन्तन की भावना निहित है, समाजवादी विचारधारा को स्पष्ट रूप से रेखांकित करता है। लोक के भीतर ही कविता का प्रयोजन और विकास निहित है, बताते हुए आचार्य शुक्ल ने कविता की वास्तविक सार्थकता आनंद के पश्चात सहृदय के मन में कर्म की उत्तेजना जगाने में, उसे लोक मंगल के लिए सक्रियता मे माना।

सौन्दर्य की व्याख्या करते हुए आचार्य राम चन्द्र शुक्ल ने मार्क्सवादियों की भॉति ही भाववादी विचारकों के मान्यताओं को खण्डित करते हुए लोकोत्तर मान्यताओ के प्रति अपनी असहमति व्यक्त की। मानवीय जीवन के क्रियाकलापों से निर्मित सामान्य जन की आकांक्षाओं को केन्द्र में रखकर भारतीय चिन्तन में प्रगतिशील साहित्य के केन्द्र मे मार्क्सवादी विचारधारा का प्रादुर्भाव स्पष्ट रूप से हुआ।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह विचार समाजवादी दृष्टि को ही स्पष्ट करता है, जिसके केन्द्र में 'मनुष्य' हैं: ''साहित्य को दुर्गति हीनता और परमुखापेक्षिता से न बचा सके, जो उसकी आत्मा को तेजोदीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को पर दु:ख कातर और संवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है।[1] समष्टि मानव के कल्याण के आकांक्षी होने के नाते आचार्य द्विवेदी ने इसी भूमि से मार्क्सवादी जीवन मूल्यों एवं निरर्थक बाग्जाल को प्रश्रय देने वाले साहित्य की कठोर आलोचना की है। उनकी स्वस्थ, सामाजिक, मानवतावादी दृष्टि ने ह्रासशील जीवन मूल्यों का तिरस्कार करते हुए सर्वत्र मनुष्य, मानव-जीवन, साहित्य एवं कला की ऐसी ही आकृति का समर्थन किया है, जो प्राणवान हो, जीने योग्य हो, जिसमें जीवन के उदात्त मानवीय मूल्यों को प्रश्रय दिया गया हो तथा जो संसार तथा जीवन के प्रति हमारी आस्था को दृढ़ करने वाली हो।[2]

---

1 अशोक के फूल पृ0 169।

2 मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन, डॉ0 शिवकुमार मिश्र, पृ0 480।

अत: आचार्य द्विवेदी ने मानवीय मूल्य के धरातल पर उतर कर जनता के केन्द्रवर्ती भूमिका को रेखांकित करते हुये उसको आर्थिक रूप से समृद्ध करने वाली कर्ममयी पथ की भूमिकाओं को प्रगतिशीलता के रूप में देखा। शिवदान सिंह चौहान ने सन् 1937 में भारत मे प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता पर 'विशाल भारत' के मार्च अंक में अपने विचारों को व्यक्त करते हुए लिखा- ''हमारा साहित्यिक नारा कला कला के लिए नहीं, वरन् कला संसार को बदलने के लिए है। इस नारे को बुलन्द करना प्रत्येक प्रगतिशील साहित्य का फर्ज है।''

अत: भारतीय मार्क्सवादी विचारधारा को अभिव्यक्ति प्रदान करने वाली साहित्यिक धारा- प्रगतिवाद, सामाजिक यथार्थ के नाम पर चलाया गया वह साहित्यिक आंदोलन है, जिसमें जीवन और यथार्थ के वस्तु-सत्य को उत्तर- छायावाद काल में प्रश्रय मिला और जिसने सर्वप्रथम हिन्दी में यथार्थवाद की ओर समस्त साहित्यिक चेतना को अग्रसर होने की प्रेरणा दी। प्रगतिवाद का उद्देश्य था साहित्य में उस सामाजिक यथार्थवाद को प्रतिष्ठित करना, नये मानव की स्थापना करना और सामाजिक सत्य को उसके विभिन्न स्तरों के साथ प्रतिपादित करना।[1] वर्ग संघर्ष की साम्यवादी विचारधारा के आधार पर जनवादी शक्तियों को संघटित करके समाज में वर्ग, वर्ण, जाति विहीन तथा आर्थिक रूप से समतावादी मूल्यों की स्थापना प्रगतिवादी विचारधारा की भूमिकाओं में समाहित है।

दो बिन्दुओं अर्थात द्वन्द्वात्मकता तथा भौतिकवाद को केन्द्र में रखकर चलने वाली मार्क्सवादी विचारधारा के उन समस्त मूल्यों को भारतीय दृष्टि मे भी अपनाया गया जो मानव समाज में निम्नवर्गीय समुदाय के लिए संघर्ष की बात करते हैं। विश्व में मात्र आधिभौतिक सत्ता को सर्वश्रेष्ठ मानती हुई प्रगतिवादी विचारधारा ने भी मार्क्सवादियों की भॉति जीवन का

---

1 हिन्दी साहित्य कोश, भाग 1 पृ0 395।

सार पदार्थ में समाहित माना।'' संसार किसी ईश्वर या मनुष्य की सृष्टि नहीं: वह गतिशील पदार्थ की एक ऐसी जीवित अग्नि शिखा है जो अंशत: उर्ध्व विकास और अंशत: अध:पतन की ओर उन्मुक्त है।'' धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष में प्रगतिवादी मात्र 'अर्थ' का ही अस्तित्व स्वीकार करता है। 'काम' को वह 'अर्थ' के आश्रित मानता है और 'धर्म' को भी भौतिक अर्थ मे जीवन की विधि मात्र मानते हुए अर्थ के ही आश्रित मानता है। मोक्ष की भाववादी कल्पना को वह एकदम से अस्वीकृत कर देता है।

इस प्रकार दो विरोधी शक्तियों : पूँजीवाद और साम्यवाद के अन्त: संघर्ष के आधार पर साम्यवादी विकासोन्मुख समाज की स्थापना करना चाहता है। प्रगतिवाद इसी साम्यवाद की साहित्यिक अभिव्यक्ति है। 'साहित्य सामाजिक कर्म विधान का एक सक्रिय अंग है अतएव उसे समाज व्यवस्था के संरक्षण में वांछित सहयोग देना चाहिए। हमारे समाज की जागृत शक्तियाँ वे लोग हैं, जो अब तक दलित और शोषित रहे है। प्रगतिवादी साहित्य उसकी सहायता करता है।[1] अत: दलित और शोषित वर्ग के पीड़ा का तीव्र विरोध करते हुए प्रगतिवाद जनवादी मूल्यों को स्थापित करता है। गत युग मे सत्य, शिव, सुन्दर की जो परिभाषा थी वह आध्यात्मिक स्तर पर मनुष्य के भावनाओं को शीतलता प्रदान करती थी। लेकिन समय के साथ आदर्श और मूल्यों में परिवर्तन स्वाभाविक है जिसके कारण सारे मूल्यों का निर्धारण जनहित के स्तर पर होने लगा। ''आज सत्य से आशय है भौतिक वास्तविकता। शिव का अर्थ है भौतिक जीवन- सामाजिक स्वास्थ्य - में सहायक होने वाला और सुंदर का आशय है स्वाभाविक एवं प्रकृत।''[2]

---

1 डॉ0 नगेन्द्र -(प्रगतिवाद एक निबंध)।

2 डॉ0 नगेन्द्र - प्रगतिवाद।

फ्रायड के सिद्धान्तों का प्रभाव प्रगतिवाद पर भी स्पष्ट है तभी तो जिन वासनाओ की अभिव्यक्ति से साहित्यकार घबराता था वही आधुनिक परिवेश-उसे मनुष्य के अन्तर्द्वन्द्व के रूप मे चित्रित करता हुआ उसके प्रवृत्तियों को अपने काव्य का विषय बनाता है:

धिक् रे मनुष्य, तुम स्वस्थ शुद्ध निश्छल चुम्बन

अंकित कर सकते नहीं, प्रिया के अधरों पर।

क्या गुह्य क्षुद्र ही बना रहेगा बुद्धिमान

नर नारी का यह सुन्दर स्वर्गिक आकर्षण !

अथवा

सुन्दर है विहग, सुमन सुन्दर

मानव तुम सबसे सुन्दरतम।

अत: भारतीय दृष्टि मार्क्सवादी विचारधारा को ही कमोवेश मानती हुई जनवाद के उन्हीं मूल्यों की स्थापना करती है, जो 'जन सामान्य' के भावनाओं, आकाँक्षाओं को तृप्त कर सके। इस प्रकार 'साहित्य में मानव सापेक्ष चित्रण को ही लक्ष्य मानते हुए उसे 'ज्ञान पथ का प्रदर्शक' के रूप में स्थापित करने का प्रयत्न किया गया।

भारतीय दृष्टि मार्क्सवाद के आधार पर जिस प्रगतिशील साहित्य की बात करता है और उसे आधुनिक युग की देन मानता है अगर उस पर विचार करें तो ऐसे साक्ष्य हमारे प्राचीन साहित्यो से प्राप्त होते है, जिनमे जनवादी मूल्यों की अभिव्यक्ति और प्रतिष्ठा निहित है।

जनवाद वस्तुत: आधुनिक मार्क्सवादी शब्दावली है जिसके केन्द्र में दलित वर्ग, जाति-पॉति को स्थान प्राप्त है तथा जिसका मूल्य घृणा से, निराशा से, कुण्ठा से, हताश से सामाजिक दृष्टिबोध के अन्तर्गत स्वीकार किया जाता है और जिसमें आर्थिक शोषण के

विरूद्ध आवाज उठाने की क्रान्तिकारी भावना का समावेश है। जो साहित्य जन सामान्य के सुख:दुख के अतिरिक्त मानवेत्तर मूल्यों की अभिव्यक्ति करता है उसे जनवादी साहित्य नही कहा जा सकता है। मध्ययुगीन काव्य में वे सभी तथ्य हमें प्राप्त हो जाते हैं जो आगे चलकर साम्यवाद के रूप में प्रतिष्ठित होता है- 'रामराज्य' की कल्पना में तुलसी ने एक ऐसे समाज का चित्रण किया है जिसमे सभी एक ही भावभूमि पर प्रतिष्ठित होते हैं:

दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहिं व्यापा॥

सब नर करहिं परस्पर प्रीति। चलहि स्वधर्म निरत श्रुति रीति॥

× × × × × × × ×

अल्पमृत्यु नहिं कवनिऊँ पीरा। सब सुन्दर सब विरुज सरीरा ॥

नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुधन लच्छन हीना॥ (2)

रामचरित मानस : उत्तरकाण्ड; गोस्वामी तुलसीदास।

उपरोक्त पंक्तियां समाजवादी विचारधारा को ही प्रतिष्ठित करती हैं जहाँ न कोई न दरिद्र है और न कोई दु:खी सभी प्रसन्न तथा सुखी हैं। जनवाद की वास्तविक अवधारणा इन पंक्तियों में स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हुई हैं।

(ग) मार्क्सवादी तथा भारतीय दृष्टियों में अन्तर :

मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन और भारतीय साहित्य चिन्तन के विवेचना के आधार पर निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि मार्क्सवाद के सैद्धान्तिक स्वरूप को ग्रहण करता हुआ भारतीय मार्क्सवाद जिसकी साहित्यिक अभिव्यक्ति के रूप में उद्‌भव सन् 1936 ई0 में मुल्कराज आनन्द, सज्जाद जहीर के प्रयत्नों से हुआ, में मार्क्स के सभी मूल्यो को ग्रहण किया गया। भारतीय दर्शन जो आध्यात्मिकता को केन्द्र में रखकर अपने सभी व्यापारो को संचालित करता था, वह भौतिकतावादी सिद्धान्त के रूप में उभर कर सामने आया जिसमें

मार्क्सवादियों से एक स्तर पर विरोध था। यथा-मार्क्सवाद अर्थ को वास्तविक जीवन के लिए 'प्रधान' मानते हुए उसे 'काम' के साथ भी जोडा। मार्क्सवादी साहित्य में फ्रायड के 'योनिवाद' सिद्धान्त के आधार पर 'काम' की व्याख्या की गयी। भारतीय दृष्टि यहाँ थोड़ा सा इस मामले में धैर्य का रूप धारण करता है। भरतीय दृष्टि यूँ तो 'काम' को महत्ता देती है लेकिन अर्थ को काम से न जोड़ते हुए उसे धर्म से जोड़ती है औरधर्म का अर्थ यहाँ आध्यात्मिक वायवीय जगत अर्थात परलोक की भावनाओं से न जोड़ते हुए कर्म के अर्थ से सम्पृक्त करती है और प्रवृत्तिमार्गी सिद्धान्त पर जोर देती है।

वस्तुतः देखा जाए तो मार्क्सवादी विचारधारा और भारतीय विचारधारा–दोनो जनवादी मूल्यों की स्थापना की बात अपने- अपने साहित्य में करते हैं और उस साहित्य को निरर्थक मानते हैं जिसमें सामान्य जन को आन्दोलित करने की शक्ति नहीं है।

'जनवाद' वस्तुतः मार्क्सवादी अवधारणा होते हुए भी भारतीय काव्य का अभिन्न अंग है। जो वर्गहीन, वर्णहीन, जातिहीन, समाज की स्थापना करता हुआ भविष्य के बेहतर मार्ग का सृजन भी करता है। आगे के अध्यायों में इन्हीं मूल्यों को रेखांकित किया गया है। मध्य युग के साहित्य में, जो 'लोकजागरण' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है, जनवादी दृष्टि की पहचान जन चेतना के रूप में की गयी है। यही मार्क्सवाद के समतामूलक सामाजिक दृष्टि की सफल अभिव्यक्ति है। हर युग के श्रेष्ठ कवि का दृष्टिकोण जनवादी होता है। वह अपनी वर्गगत सीमाओं का उल्लघन कर सामान्य जन का साथ देता है। 'बहुजन-हिताय बहुजन-सुखाय' के सिद्धान्त पर यो सहानुभूति वह हर वर्ग को दे सकता है, पर नजर अन्ततः सामान्य जन की ओर होती है। यह जनवादी परम्परा हर युग के श्रेष्ठ साहित्य में देखी जा सकती है। प्रगतिवाद एक युग विशेष की साहित्यिक अभिव्यक्ति है और जनवादी दृष्टिकोण प्रत्येक युग के मानवतावादी साहित्य का प्रधान लक्ष्य है—जिसमे मानव के सामूहिक भावों की ही अभिव्यक्ति होती है।

अत: जैसा कि मार्क्सवाद कहता है कि हमें अपने बेहतर भविष्य निर्माण के लिए वर्तमान में जीते हुए अतीत के उन मूल्यो से सीख भी लेना है, जो हमारे विकासोन्मुख चरित्र को गति प्रदान कर सके। इसी भावना के साथ आगे के अध्यायों मे जनवादी मूल्यों की पहचान का प्रयास किया गया है।

----------00----------

द्वितीय अध्याय

(2) भक्तिकालीन साहित्य की पृष्ठभूमि

(क) भक्तिकालीन चेतना की ऐतिहासिक व्याख्या

(ख) भक्ति तत्व और जनचेतना

(ग) जनवादी दृष्टि से भक्ति साहित्य की सामान्य परख

द्वितीय अध्याय

(2) भक्तिकालीन साहित्य की पृष्ठभूमि —

भारतीय जनमानस में एक ऐसा आन्दोलन जिसमें समस्त जनता अपने आप में चाहे वह दलित हो, चाहे व पीड़ित और शोषित हो, — आत्मसम्मान के साथ जी सकने की एक ऊर्जा प्राप्त करती है। मध्यकाल में भक्तिआदोलन ऐतिहासिक तथा एक सांस्कृतिक घटना है। '' भक्ति मनुष्य के हृदय की एक स्थायी वृत्ति है, जो मनुष्य के आर्विभाव के समय से ही उसके साथ-साथ चलती हुई मध्यकाल में आकर सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करती है। भक्ति आंदोलन के व्यापक जनाधार इस बात के गवाह है। डॉ० शिव कुमार मिश्र के अनुसार भक्तिआंदोलन, जो देश के उत्तर से दक्षिण तथा पूर्व से पश्चिम तक, शताब्दियों के कालावधि में भी अपने सार्थक प्रभाव को कायम रख सकने के नाते उसे मध्यकाल के एक महान जन आंदोलन तथा लोक जागरण की संज्ञा से अभिहित करते हैं, से स्पष्ट होता है कि भक्ति आन्दोलन की अपने तत्कालीन समाज में कितनी गहरे स्तर तक पैठ थी,जो एक जन चेतना के रूप में अपने प्रभाव को कायम रख सकने में सफल होती है।

अस्तु भक्ति आंदोलन का जो रूप मध्यकाल में उभर कर सामने आया है वह किन-किन अर्थो में समाज के दलित वर्ग तथा शोषित वर्ग को संतोष प्रदान कर सका ? यह प्रश्न विचारणीय है। समाज जो अनेक वर्गो में विभक्त था, वर्ण व्यवस्था के कुचक्र में फंसा था, सामाजिक स्तर पर ऊँच नीच, जाति-पाँति की भावना धार्मिक वाह्याडम्बर, कर्मकाण्ड, तथा धनलोलुपता की पराकाष्ठा में जीवन यापन कर रहे भारतीय जनमानस के लिएभक्ति आंदोलन सर्वसुलभ समाधन लेकर उपस्थित हुआ।

भक्ति आंदोलन की साहित्यिक विचारधाराएँ समाज में व्याप्त कुचक्रों के ऊपर प्रहार करती दृष्टिगत होती हैं। डॉ० शिव कुमार मिश्र के अनुसार ''वर्ग, वर्ण, सम्प्रदाय तथा धर्मगत बंधनो की अवहेलना करते हुए मनुष्य मात्र को ईश्वरोपासना का समान अधिकारी

घोषित करने वाली शास्त्रगत व्याख्याएँ तथा व्यवस्थाएँ देकर आचार्यो ने इस काल मे एक ऐसी सेक्यूलर विचारधारा की नींव रखी जो अपने समय को देखकर क्रान्तिकारी कही जा सकती है। (भक्ति आंदोलन और भक्तिकाव्य पृ० 20) यहॉ पर मिश्र जी की दृष्टि धर्मनिरपेक्षता की ओर इंगित करती है, जिसमें सभी संत तथा भक्तकवि समाज में व्याप्त अव्यवस्थित असंतुलित ढांचे को ठीक करने का प्रयत्न करते है तथा जाति–पाँति रूपी खाई को पाटने का प्रयास भी करते हैं।

अस्तु मध्यकाल के सामाजिक व्यवस्था पर दृष्टि डाली जाए तो यह ज्ञात होता है कि उस समय का समाज विशृंखिल होता चला जा रहा था। धर्म ने समाज को तथा समाज ने धर्म को बहुत अधिक प्रभावित किया था। अत: मध्यकालीन भक्तिआदोलन की साहित्यिक विचारधाराएं तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों की उपज थीं। अत: तत्कालीन समाज की क्या दशा थी उस पर संक्षिप्त प्रकाश डालना आवश्यक होगा साथ ही भक्ति साहित्य का सोता कहाँ से और कब प्रवाहित हुआ इस पर भी आगे विचार किया गया है।

भक्ति साहित्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में सबसे अहम् सवाल है भक्ति आंदोलन के उदय का। यह प्रश्न बराबर साहित्य के मर्मज्ञों के बीच एक पहेली की भाँति आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के मान्यताओं के पाटो के बीच पीसता हुआ एक मुद्दा बना हुआ है जिसमें से कुछ ऐसे सवाल खड़े हुए हैं मसलन- क्या भक्ति आंदोलन ईसाईयत की देन है या भारतीय जनमानस की हारी हुआ मनोवृत्ति की देन या भारतीय जनमानस के चिन्तन की स्वत: स्फूर्त विकास ? यह सारे प्रश्न आज भी मथे जाते है। — इस पर भी आगे विचार किया गया है।

साहित्य का लक्ष्य या उद्देश्य क्या है ? क्या सर्वमत है कि साहित्य कलात्मक अभिव्यक्ति का एक प्रकार है? मानव को दृष्टि में रखकर ही सारा भौतिक व्यापार चल रहा है और मानव ही कलात्मक अभिव्यक्ति का लक्ष्य है। साहित्य सत्य की साधना है, शिवत्व

की कामना है और सौन्दर्य की अभिव्यंजना है। साहित्य बहुमुखी भावराशियों से ओत प्रोत होने के कारण मानव सृष्टि की सबसे कमनीय कृति के रूप में हमारे सामने आता है। भक्ति साहित्य भी मानव सृष्टि की सबसे कमनीय कृति के रूप में समाज में व्याप्त हुआ। जिसमें भारतीय सांस्कृतिक विरासत को बेहतर ढ़ंग से पहचानने की शक्ति विद्यमान है।

अब प्रश्न खड़ा होता है कि भक्ति क्या है ? इसका प्रचार - प्रसार मध्यकाल तक किस रूप में हुआ इसका विवेचन निम्नवत किया गया है-

भक्ति का स्वरूप

भक्ति शब्द 'भज्' में 'क्तिन्' प्रत्यय के योग से बनता है। भक्ति शब्द का प्रथम उल्लेख ईश्वर के प्रति प्रेम के अर्थ में न होकर वैदिक शब्दावली में गौण के अर्थ में हुआ है। (गीता - 12/2,6,8,9,10)

भक्ति के संदर्भ में श्रीमद्‌भागवत गीता प्रथम प्रमाणिक ग्रंथ माना जाता है, किन्तु भक्ति को इसमें परिभाषित नहीं किया गया है। 12 वें अध्याय में भक्ति को व्याख्यायित करने सम्बंधी श्लोक में महज भक्ति के संदर्भ में एकनिष्ठता पर बल है। गीता के 9 वें अध्याय के इस श्लोक पर दृष्टि डाले—

मन्मना भव मदभक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

मामेंवैष्यसि युक्तवैवमात्मानं मत्यपरायण:।। गीता 9/34

तथा साथ ही 13वें तथा 14 वें अध्याय के इस श्लोक पर दृष्टि डालें —

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्याभिचारिणी। गीता 13/10

मां च यौऽयभिचारेण भक्ति योगेन सेवते। गीता 14/26

तो 'मन्मनाभव' तथा 'अव्यभिचारिणी' आदि शब्द के आधार पर कहा जा सकता है कि गीता मे ईष्ट के प्रति एकनिष्ठ भाव को ही भक्ति माना गया है। भक्ति के संन्दर्भ मे दी गयी परिभाषाओं मे शाण्डिल्य की परिभाषा सबसे प्राचीन है—

सा परानुरक्तरीश्वरे। (शाण्डिल्य भक्ति सूत्र-2)

नारदभक्ति सूत्र के अनुसार —

सात्वस्मिन परम प्रेमरुपा

तथा परासर के अनुसार —

पूजादिष्वनुरागः इति पराशर्य । अर्थात पूजा आदि में अनुराग रखना भक्ति है। नारद भक्ति सूत्र मे भगवान के प्रति अपने समस्त कर्मो को अर्पित करना और उनका विस्मरण होने पर व्याकुल होना आदि को भक्ति माना गया है यथा—

नारदस्तु तदर्पितारिवलाचारिता तद्विस्मरणे व्याकुलतेति।

(नारदभक्ति सूत्र - 19)

भागवत के प्रथम स्कन्ध 2/6 नामक श्लोक के आधार पर भक्ति को अहैतुक माना गया है।

सा वै पुसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षते।

अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा संप्रसीदति।।

शंकराचार्य ने विवेक चूड़ामणि में भक्ति का ज्ञानात्मक लक्षण देते हुए स्वरूपानुसंधान को ही भक्ति कहा है—

मोक्षकारण सामग्रयां भक्तिरेव गरीयसी।

स्वस्वरुपानुसंधान भक्तिरिव्यभिधीयते।। (विवेक चूड़ामणि 31)

निर्गुण धारा के संत कवि कबीर की भक्ति नारदीय भक्ति पर आधारित है—

" भगति नारदी मगन शरीरा। इहि विधि भवतरि कहे कबीरा।।"

तो सगुणकाव्य धारा के भक्तों में तुलसीदास ने भक्ति को परम पुरुषार्थ मानते हुए लिखा है कि—

सखा परम परमारथ येहू। मन क्रम वचन राम पद नेहू।। (रामचरित मानस)

अर्थात् ईश्वर के प्रति भक्ति का आशय है मन, कर्म तथा वचन के साथ उसमें प्रेम करना। अतः उन्होंने भक्ति के लिए प्रीति को आवश्यक माना।

प्रीति बिना नहि भगति दृढ़ाई।
जिमि खगपति जल के चिकनाई। (रामचरितमानस (7/89)

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्ति को परिभाषित करते हुए उसमे प्रेम के साथ श्रद्धा को भी जोड़ दिया।

अस्तु उपरोक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भक्ति अपने आराध्य के प्रति एकनिष्ठ होकर प्रेम भाव से सम्पूर्ण समर्पण का नाम है।

भक्ति के भेद —

गीता में भक्ति के भेद न बताकर भक्त के चार भेद - अर्थार्थी, आर्त्त, जिज्ञासु और ज्ञानी बताए गए हैं जिन्हें प्रकारान्तर में भक्ति के भेद माना जाने लगा।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थाथी ज्ञानी च बरतवर्षभ।। (गीता 6/76)

शाण्डिल्य ने भक्तिके दो भेद किए हैं-मुठया और इतरा। इतरा भक्ति को ही गौणी भक्ति कहा गया है। गौणी भक्ति को पुनः तीन भागों में विभाजित किया गया है- आर्त भक्ति, जिज्ञासा भक्ति, अर्थाथिता भक्ति।

नारद ने भक्ति के 11 रुपो का वर्णन किया है— गुणमहात्क्यासन्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणसक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, वात्सल्यासक्ति, कान्तासक्ति, आत्मानिवेदन, तन्मयासक्ति, तथा परम विरहासक्ति।

भागवत में भक्ति 9 प्रकार की कही गयी है— श्रवणं, कीर्तन, स्मरणं, पादसेवनं, अर्चनं, वदनं, दास्यं, संख्यम, आत्मनिवेदनम्।

भक्ति के तीन रुप भागवत में देखे जा सकते हैं — विशुद्ध, नवधा और प्रेमा।

भक्ति का निरुपण सात्विकी, राजसी, तथा तामसी, रुप में भागवत मे किया गया है—

कपिल का देवहुति के प्रति कथन —

क- **''कर्म निहरिमुद्दिश्य परास्मिनवातदर्पणम्। यजेद्यष्टव्यमिति वा प्रथग्भावः सा सात्विका॥''** (भागवत 3/29/10)

ख- **विषयानभिसंथाययश एश्वर्यमेव वा। अर्चादावर्चयेद्यों मां पृथञ्भावः सा राजसः॥** (भागवत 3/29/9)

ग- **अभिसंधाययर्द्धिसां दभं मात्सर्यमेव वा। संरंभी भिन्नदग भांव मयि कुर्यावस तामसः॥** (भागवत 3/29/8)

इसके अतिरिक्त भागवत में निष्काम भक्ति, अहैतुकी भक्ति, नैष्ठिकी भक्ति, अकिंचन भक्ति, निरपेक्ष भक्ति आदि को भी भक्ति के विविध रूपों में व्याख्यायित किया गया है।

भक्ति मीमांसा में भक्ति को निर्गुण तथा सगुण दो भेदों में विभाजित किया गया है, जिसका रुप हमें भक्ति साहित्य के अन्तर्गत दृष्टिगत होता है।

इस प्रकार गीता से लेकर भक्ति रसामृत सिन्धु तक के अन्तर्गत भक्ति संबंधी विवेचन से भक्ति का जोस्वरूप उभर कर सामने आता है उसमें ईश्वर के प्रति अनन्य प्रेम का भाव छिपा है। जो मन को अथाह सरस सलिल सागर में गोते लगाता हुआ परम सुख की अनुभूति कराता है, **इसी तथ्य को भक्ति नीलमणि रत्न भी पुष्टि करता है**। जहाँ सब कुछ सत्य, सुन्दर और शिवत्व के बीच से अनुप्राणित रहता है और निरन्तर ईष्टमय स्थिति ही भक्ति का स्वरूप बन जाता है।

भक्ति साहित्य की ऐतिहासिकता में उपरोक्त परम्परा आलवार संतों के प्रपत्ति भाव और उनके गीतों में गहरे स्तर तक विद्यमान है। कुछ विद्वान यह प्रश्न खड़ा करते हैं कि ''जो भक्ति आन्दोलन मध्ययुग मे समुचे उत्तर भारत में अपनी पहचान कराता है उसकी मूलवर्ती प्रेरणा क्या और कौन सी है ? कौन सा वह दुर्दम शक्तिपात था जिसने भक्ति के दक्षिण की ओर से बहने वाले मंद-मंद सोते को उत्तर में एक उच्छल नद का रूप प्रदान किया, एक ऐसा वेगवान प्रवाह बनाया, जिसमें सदियो के रुढ़िबद्धशास्त्र धर्म, वर्ण और सम्प्रदाय विधि निषेध तिनके के समान बहते हुए दिखाई पड़े और जो शतधा विभक्त होकर सदियों तक न केवल उत्तर भारत के जन जीवन को शीतल करता रहा, जिसने पश्चिम और पूर्व की जनता के आतप-तप्त प्राणों को भी समान रूप से सीचा और हरा-भरा किया। (भक्ति आंदोलन और भक्ति काव्य पृ० 22- डॉ० शिव कुमार मिश्र)

उपरोक्त विचारधारा भक्ति साहित्य को एक ऐसी ऊँचाई प्रदान करती है, जिसमें सभी वर्गो, सम्प्रदायों, वर्णो को साथ लेकर चलने की शक्ति विद्यमान है, वह मर्माहत हृदय को एक ऐसी प्रेम मयी शीतल वाणी प्रदान करती है, जिसमें समस्त पददलित समुदाय अपने आप को स्नेह से अभिसिंचित पाता है।

अत: भक्ति जो मनुष्य की अन्त:क्रियाओं को स्पन्दित करती है कारण क्या था कि पूर्व मध्यकाल में मंद सी पड़ती दिखाई देती है और दक्षिण से मद गति से उत्तर की ओर बहती हुई उद्दाम वेग धारण कर लेती है। **गीता प्रेस का हिन्दू संस्कृति विशेषांक** (कल्याण पत्रिका) **में संस्कृति की व्याख्या भक्ति के संदर्भ में की गयी है जिसका सम्बंध श्रीमद् भागवत के प्रथम श्लोक से मिलता है।** श्रीमद्‌भागवत्माहात्म्य मे कुछ श्लोक है जो भक्ति और भक्ति आंदोलन के प्रवाह की ओर संकेत करते हैं—

उत्पना द्रविडे साहं वृद्धि कर्नाटके गता।
क्वचित् क्वचित् महाराष्ट्र गुर्जरे जीर्णतांगता।

तत्र घोरे कलेयोगात पांखडे खंडिताक का।

दुर्बलाहं चिरंयाता पुत्राभ्यां सह मन्दताम्।

वृन्दावनं पुनः प्राप्य नवीनैव सरुपिणी।

जातां युवती सम्यक श्रेष्ठ रुपा तु सांप्रतम्।

दूसरी हिन्दी में जो उक्ति है वह इस प्रकार है— भक्ति द्राविड उपजी लाए रामानंद प्रगट करी कबीर ने सप्तद्वीप नवखण्ड॥

उपरोक्त उद्धरणो से ज्ञात होता है कि भक्ति का उदय द्रविड देश में हुआ, तमिलनाडु में हुआ। परन्तु संस्कृत श्लोक के अनुसार भक्ति का विकास कर्नाटक और पुनः धीरे-धीरे महाराष्ट्र में हुआ, पतन गुजरात प्रदेश में हुआ, फिर वृन्दावन में उसे पुनर्जीवन उत्कर्ष तथा श्रेष्ठत्व की प्राप्ति हुई। हिन्दी की उक्ति-भक्ति को दक्षिण से रामानन्द द्वारा लाए जाने तथा उत्तर भारत मे कबीर द्वारा प्रचारित-प्रसारित किए जाने की ओर संकेत करती है।

इतिहास पर दृष्टि डालने पर पता चलता है कि दूसरी सदी में सेन्ट टामस द्वारा त्रिचुरापल्ली में पहले गिरजाघर की स्थापना होती है, जिसमें बड़ी संख्या में वहाँ की जनता को ईसाईधर्म स्वीकार करने का प्रलोभन दिया जाता है और धर्मान्तर का पहला प्रयास एक सुनियोजित तरीके से दक्षिण भारत में सेन्ट टामस द्वारा किया जाता है। संदर्भ ''खड़ी बोली के विकास में ईसाई मिशनरियों का विकास'' हो सकता है कि इस धर्मान्तरण के परिणाम स्वरूप दो धर्मा के बीच सांस्कृतिक टकराहट के परिणाम स्वरूप ही दक्षिण में भक्ति का जन आन्दोलन उठ खड़ा हुआ हो। क्योंकि धर्मान्तरण का दबाव भी नीची जातियों पर अपेक्षाकृत उच्च जातियों से ज्यादे रहा होगा और तत्कालीन परिप्रेक्ष पर अगर दृष्टि डाले तो यह भी स्पष्ट होता है कि जो भी संत भक्त कवि भक्ति के गीतों का समाज सुधारक रुप समाज में लेकर अवतरित हुए वह भी नीची जातियों से ही सम्बध रखने वाले थे। एक वर्ग विशेष के स्तर पर धर्म और भक्ति का सास्कृतिक जागरण निश्चय ही लोकजागरण का रुप ले लेता

है। जिसके केन्द्र में धर्मान्तरण का दबाव स्पष्ट महसूस किया जा सकता है। जिसके परिणाम स्वरूप वैष्णव धर्म का विकास संत काव्य धारा के साथ-साथ राम और कृष्ण की भक्ति के रूप में हुआ।

अस्तु हम अगर इस परिप्रेक्ष के विस्तार में जाएँ तो यह स्पष्ट होता है कि भक्ति चाहे वह कृष्ण की हो या राम की दोनों में कोई तात्विक भेद नहीं है। प्रारम्भिक चरण मे आलवारों और नायनारो ने भक्ति का उपयोग दक्षिण भारत से बौद्धों और जैनों को भगाने के लिए किया था लेकिन वह धीरे-धीरे आपसी संघर्ष के शिकार होते चले गये और भक्ति दक्षिण में तीन रुपों में विभक्त हो गयी—

(क) वैष्णव संप्रदाय (इसमे राम और कृष्ण की भक्ति भी समाहित थी) (इसके केन्द्र में आलवार, नाथमुनि, यमुनाचार्य, रामानुजाचार्य, रामानन्द, वल्लभाचार्य, मध्वाचार्य और विष्णुस्वामी आदि हैं)

(ख) शैव सम्प्रदाय (नायनारों के बीच से इसका विकास हुआ माना जाता है)

(ग) बौद्धों और जैनियों के विरोध के परिणाम स्वरूप मध्यमार्गी तथा समन्वयात्मक रूप में कर्नाटक के पुण्डलीक की भक्ति पद्धति।

पुण्डलीक ने कर्नाटक को छोड़कर महाराष्ट्र में पंढ़रीपुर में 'भीमा नदी' के किनारे विष्णु तथा शिव के समन्वयात्मक रुप को विट्ठल भगवान की मूर्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया। जिसका साक्ष्य हमें निवृत्तिनाथ की उक्ति में स्पष्ट होता है यथा—

पुण्डलिकांचे भाग्यवर्ण वचा अमरीं।
नाहीं चराचर ऐसों कोणी।
विष्णु सहित शिव आणिता पंढरी
भीमा तीरीं देखणे।

(संत साहित्य के प्रेरणा श्रोत – प० परशुराम चतुर्वेदी पृ० 85)

इस प्रकार हमें यह साक्ष्य प्राप्त होता है कि जनमानस में समन्वय की भावना के विकास में संतो तथा भक्त कवियो ने सहिष्णुता का मार्ग अपनाया औरसबसे अधिक विस्तार मिला वैष्णव भक्ति शाखा को, जो मध्यकाल में रामानुजाचार्य की परम्परा में रामानन्द जी के द्वारा पुष्पित तथा पल्लवित की गयी है। भक्त और भगवान पर चिन्तन करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद ने लिखा है कि : ब्रह्म संहिता में कहा गया है कि यद्यपि भगवान गुण और प्रकाश अंचितनीय है और सबके हृदय में रहता हुआ भी वह सब के आगोचर रहता है— कम लोग ही उसके हृदय स्थित रुप को जान पाते हैं— तथापि संत लोग प्रेमांजन से विच्छुरित भक्ति रुप नयनो से सदैव उसका दर्शन करते रहते हैं अर्थात् जो अरूप होने के कारण दृष्टि का अविषय है उसे प्रेम के अंजन से अनुरंजित करके विशिष्ट बनाकर देखा करते है:

प्रेमाञ्जनन्छुरित भक्ति विलोचनेत

सन्तः सदैव सहृदयेडप्यवलोकयन्ति।

पं श्याम सुन्दरमचिन्त्य गुण प्रकाशं।

गोविन्दयादिपुरुषं तमहं यजामि॥

भगवान का यह प्रेमाजनच्छुरित रुप भक्त की अपनी विशेषता है। (मध्यकालीन धर्मसाधना पृ० 5)

रामानन्द के शिष्यों ने उपरोक्त प्रकार के भक्ति तथा प्रेम के स्वरूप को लेकर जनसाधारण के मध्य अपनी ईश्वरीय लीला का गान किया।

रामानन्द ने विष्णु और नारायण का रुपान्तरण करके रामभक्ति का प्रचार किया। (हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डॉ० राम कुमार वर्मा पृ० 300, 304।) ऐसा सभी विद्वानो का विचार है कि रामानुज, निम्बार्क, विष्णुस्वामी और मध्वाचार्य ने अपने

विभिन्न मतवादों की स्थापना शंकराचार्य के मायावाद के विरोध में की थी। शंकराचार्य पक्के निर्गुणवादी थे, जो भक्ति के क्षेत्र में एक बहुत बड़ा व्यवधान था। इस संबंध में डॉ० विजयेन्द्र स्नातक का निम्नलिखित कथन उल्लेखनीय हैकि "शंकराचार्य का निर्गुण ब्रह्म सगुण भक्ति के क्षेत्र में कैसे ग्राह्य हो सकता था? फलत: उसके विरोध के लिए एक ऐसे सगुण साकार अवतारी ब्रह्म की आवश्यकता थी, जो वैष्णव भक्ति की परम्परा को अक्षुण्ण रखते हुए दार्शनिक दृष्टि से भी बुद्धिगम्य एवं स्वीकार्य हो सके। (राधावल्लभ सम्प्रदाय, सिद्धान्त और साहित्य, डॉ०, विजयेन्द्र स्नातक, पृ- 25)

जैसा कि उपरोक्त कथन में यह कहा गया है कि तत्कालीन समाज में सगुण ब्रह्म के विचारधारा की आवश्यकता थी जिसको रामानन्द ने रामभक्ति चिन्तन को लेकर समाज में व्याप्त बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न किया। दूसरे तरफ निम्बार्क मध्व और विष्णु स्वामी ने विष्णु के दूसरे रूप श्रीकृष्ण को ग्रहण किया और प्रचारित तथा प्रसारित किया।

शंकराचार्य ने प्रस्थानत्रयी अर्थात बादरायण के ब्रह्मसूत्र, उपनिषद और गीता के ऐसे भाष्य लिखे जिससे अद्वैतवाद की स्थापना को पुष्टि मिली - यहॉ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र, उपनिषद और गीता पर जो भाष्य लिखे उसमें उनकी दृष्टि एकान्तिक रही क्योंकि इन ग्रन्थों में मात्र मायावाद तथा अद्वैतवाद की ही स्थापना नहीं है।

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने यहाँ तक कह दिया है कि शंकराचार्य के तत्ववाद की पृष्ठभूमि में बौद्ध तत्ववाद अपना रूप बदलकर रह गया। (हिन्दी साहित्य की भूमिका डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ० 5) प्रसगानुसार यह कहना उचित होगा कि शंकराचार्य का दार्शनिक मत निवृत्ति मार्गी था।

शकराचार्य और उनके परवर्ती आचार्यो की दार्शनिक ऊहापोह एव गंभीर चिताधारा से साधारण जनता के लिए कोई ऐसा मार्ग सामने नहीं आया था जिसे स्वीकार करके एक साधारण हिन्दू अपने जीवन मे आगे बढ़ सकता। एक ओर दार्शनिकों के कठिन अबोधगम्य

तर्क थे, दूसरी ओर क्रियाक्लिष्ट साधनाओं का प्रचार करने वाले नाथ सम्प्रदाय, सिद्ध सम्प्रदाय और सहजिया सम्प्रदाय थे।

''नाथ पंथ के प्रथम प्रधान आचार्य आदिनाथ थे जिनके शिष्यों ने 14वीं सदी में कनफटे पंथ का कच्छ में प्रचार किया।'' नाथपथी साधक अपने लक्ष्य की प्राप्ति हेतु विभिन्न सिद्धियों का प्रयोग करते थे वहीं सहजिया सम्प्रदाय मे परकीया भावना पर जोर दिया जाता था। धीरे-धीरे समाज में अनेक सम्प्रदायों का अभ्युदय होता चला गया। डॉ० रामकुमार वर्मा ने अपने ग्रंथ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास में इस बात के संकेत दिए हैं कि अकेले सूफी धर्म के अन्तर्गत 12वीं सदी के उत्तरार्द्ध से लेकर 15वीं सदी के उत्तरार्द्ध तक 14 सम्प्रदायों का विकास हुआ जिनका संकेत आइने अकबरी में स्पष्ट रूप से किया गया है। (पुस्तक मध्ययुगीन समन्वय साधना - अब्दुल विस्मिला)

इस प्रकार भक्तिकालीन साहित्य को वीरगाथाकाल से जोड़ने वाले संधियुग में दर्शन की परम्परा छिन्न होती जा रही थी क्योंकि उनमे मतैक्य नहीं था और आपस में ही अनेक प्रकार के अन्तर्विरोध थे। परिणामस्वरूप ईश्वर के निर्गुण और सगुण दोनों रूपों के प्रति भक्ति भावना धीरे-धीरे आधिक स्पष्ट रुप धारण करने लगी। अत: मध्यकालीन (14वीं सदी) के साहित्य को निम्न बिन्दुओं के अन्तर्गत समझा जा सकता है—
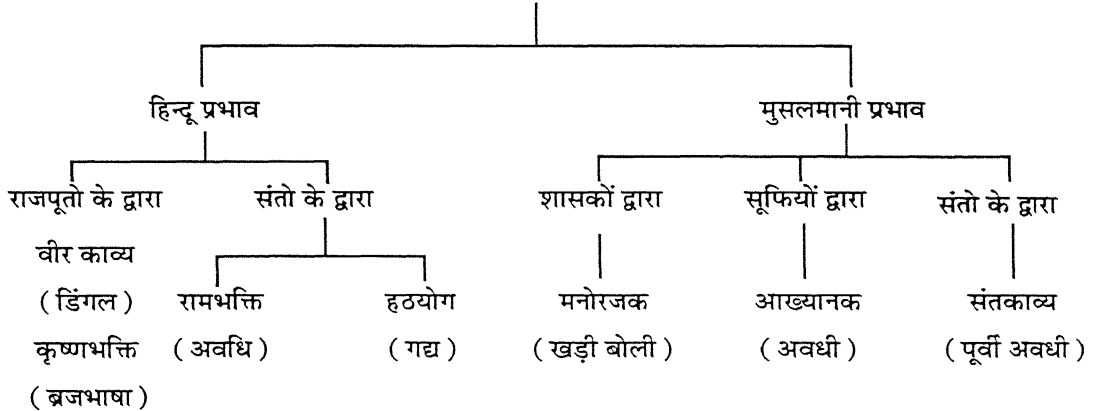
(संगुण और निर्गुण हिन्दी साहित्य - डॉ० आशा गुप्त पृ० 34)

उपर्युक्त धाराओं से संबंधित कवियों के नामों में श्रृंगार के संबंध में अब्दुर्रहमान, योगधारा के संबंध में गोरखनाथ व नामदेव, मनोरंजक साहित्य के संबंध में अमीर खुसरों व प्रेमकथा के लिए मुल्लादाउद के नाम इतिहासकारों के मतानुसार उल्लेखनीय है।

कृष्ण काव्य धारा मे जयदेव का काल समाप्त होने के अनन्तर विक्रम की 14वीं सदी के अंत में विद्यापति का जन्म माना जाता है। (हिन्दी साहित्य का वृहत्त इतिहास भाग 1, खण्ड 2, अध्याय 4 पृ० 393)। रामभक्ति धारा पर दृष्टि डालने पर पता चलता है कि राघवानन्द विक्रम की 14वीं सदी में रामानन्द को दीक्षित कर परलोक सिधारे थे (हिन्दी साहित्य का इति० पं० रामचन्द्र शुक्ल पृ० 107) रामानन्द के प्रचार प्रसार से भक्ति साहित्य की सुदृढ़ नीव पड़ी। ''कहा जाता है, उन्होंने स्वयं कुछ पद हिन्दी में लिखे और अपने शिष्यों को हिन्दी में लिखने के लिए प्रेरणा भी दी।' (रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव, डॉ० बदरीनारायण श्रीवास्तव पृ० 98।

हठयोग साहित्य के बारे में डॉ० हजारी प्रसाद का स्पष्ट कथन है कि 'भक्तिवाद के पूर्व यह सबसे प्रबल मतवाद था (हिन्दी साहित्य की भूमिका पृ० 60)।

अस्तु मनोरंजक साहित्य में खुसरों, आख्यानक काव्य में मुल्लादाउद की रचना विशेष उल्लेखनीय है। संत काव्य के लिए यह सदी विशेष महत्वपूर्ण है। रामानन्द ने तत्ववाद पर विशेष बल न देते हुए व्यवहारपरक भक्ति पर विशेष बल दिया और पूरे भारत का भ्रमण कर रामभक्ति का प्रचार किया। निर्गुण पंथ के लिए मार्ग निर्धारण में नाथपंथ के योगी और भक्त नामदेव की महत्वपूर्ण भूमिका रही जिसका विकास कबीर द्वारा सत साहित्य के रूप में हुआ। इस प्रकार मध्यकालीन साहित्यिक विचारधारा अनेक रुपों मे बहती हुई निर्गुण तथा सगुण धारा के रूप में विशेष रूप से मध्यकालीन जन समुदाय को अनुप्राणित की, जिसमें तत्कालीन समाज ने अपने तत्प प्राणों को शीतल करने में अगाथ अनुराग की अनुभूति की और संतोष की सांस ली।(उदा० अध्याय सांस्कृतिक शब्दावली, पुस्तक संत काव्य -

प्रेमनारायण शुक्ल)। आज भी हमारा भक्ति साहित्य जन–जन के हृदय को शीतलता प्रदान करने में अनुराग की धारा प्रवाहित करने में सक्षम है और खास करके तुलसीदास द्वारा रचित 'रामचरित मानस' की एक–एक चौपाई 'मंत्र' के समान भारतीय जनमानस को अनुप्राणित करती है।

(क) भक्तिकालीन चेतना की ऐतिहासिक व्याख्या

डॉ० विजयेन्द्र स्नातक का कथन है कि "वैष्णव आलवार भक्तों का काल ईसा की 5वी सदी से 9वीं सदी के मध्य का स्थिर किया जाता है। इन आलवरों में श्रीकृष्ण को ही पुरुष स्वीकार करके पूज्य देवता माना जाता था। भक्तगण अपने को नायिका (स्त्री) मानते थे। इनभक्तों के चार हजार पद श्रीकृष्ण लीला से संबद्ध पाए जाते है।" (राधावल्लभ सम्प्रदाय, सिद्धान्त और साहित्य पृ० 181)। यह जो परंपरा नायिका (स्त्री) मानने की है, आगे चलकर सखी सम्प्रदाय तथा रामभक्त काव्य में दृष्टिगोचर होता है। सखियों के लीला गान से ही रसिक सम्प्रदाय का विकास हुआ। (रामभक्त और रसिक सम्प्रदाय, भगवती प्रसाद सिंह) इसका आशय यह है कि उत्तरी भारत में वैष्णव धर्म वासुदेव धर्म या पांचरात्र धर्म के रुप में विद्यमान था। गुप्तकाल के अनन्तर उत्तरी भारत में वैष्णव धर्म का ह्रास होने लगा और वैष्णव धर्म दक्षिण भारत पहुँचा, जहाँ आलवार भक्तों के कारण इस धर्म को बहुत बल मिला।

भक्ति में भगवान और भक्त की स्थिति अनिवार्य है लेकिन शंकराचार्य ने भक्ति में निहित द्वैतता की भावना का खण्डन शास्त्रीय ढंग से कर दिया। अत: ऐतिहासिक और भौगोलिक दोनों दृष्टियों से अद्वैतवाद की सफल स्थापना हुई।

यह सर्वविदित है कि लगभग 13वीं सदी के अन्त तक रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य विष्णुस्वामी और निम्बार्काचार्य वैष्णव धर्म को शास्त्रीय रूप दे चुके थे। सभी आचार्यो का जन्म सम्भवत: दक्षिण भारत में हुआ था। (रामानुज सन् 1037 से 1137 ई, जन्म स्थान परमवट्ठर, मद्रास के निकट, मध्वाचार्य जन्म सन् 1257 ई० जन्म स्थान उदीपी, मंगलोर के निकट, विष्णुस्वामी जन्म सन् 1300 ई० के लगभग संभवत: दक्षिण निवासी, निम्बार्क–12 वीं सदी जन्म स्थान तेलगू प्रदेश।

इन आचार्यो के शास्त्र सम्मत तार्किक विचारों से सामान्य जन धीरे-धीरे उबने लगा और वैष्णव धर्म को विद्वानों के एक वर्ग ने वाद-विवाद का विषय बना दिया। अब समय आया दक्षिण भारत से उत्तर भारत में पुनः प्रचलन का। प्रस्तुत अध्याय में हम इस विषय पर विचार विमर्श करेंगे कि उत्तर भारत में क्या कारण थे कि वैष्णव धर्म का विकास जन चेतना के रूप मे उभर कर सामने आया। उस समय सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक जीवन का प्रभाव भक्ति साहित्य के स्वरूप निर्धारण में क्या और कहॉ तक पड़ा— इन्हीं बिन्दुओं के आधार पर हम भक्तिकालीन चेतना की ऐतिहासिक व्याख्या का प्रयत्न करेंगे और इसके साथ ही साथ मध्य देश की सांस्कृतिक व्याख्या भी होगी, जिसके कारण लीला का स्वरूप कलात्मक रुप में विशेष पहचान बना सका। इसका कारण यह भी हो सकता है कि शिक्षा का माध्यम धर्म स्थल थे और उसी के अनुकरण पर मध्यकाल में मठों- मंदिरो को शिक्षा का केन्द्र बना दिया गया था।

मध्ययुगीन समाज तथा भक्त कवियों की सामाजिक चेतना

मध्ययुग में जीवन पर धर्म की गहरी छाप थी। स्मिथ का उल्लेख करते हुए डॉ० राम कुमार वर्मा का कथन है कि ''14वीं सदी मे कुछ प्रलोभन तथा भय के कारण उत्तरी भारत की अधिकांश जनता मुसलमान हो गयी थी। मुस्लिम शासक की विनाशकारी प्रवृत्ति के कारण हिन्दुओं में समाज संस्कार को अधिक नियमित करने की आवश्यकता पडी। इसके परिणाम स्वरूप वर्णाश्रम धर्म की रक्षा, छुआछूत की जटिलता तथा परदे की प्रथा है।'' (हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० 375)।

डॉ० वर्मा के कथन इस आशय की पुष्टि करते हैं कि धर्मान्तरण की अमानुषिक कृति के परिणाम स्वरूप ही मध्यकाल में जाति-पाँति तथा परदा प्रथा की जटिलताओं कास्वरूप समाज में व्याप्त होता चला गया और चतुष्वर्णीय व्यवस्था के अन्तर्गत समाज जीवन यापन करने पर बाध्य हो गया। लेकिन यह वर्ण व्यवस्था धीरे-धीरे कठोर होती गयी इसके पीछे भी

कहीं न कहीं धर्मान्तरण का प्रभाव अवश्य हो रहा होगा। हम पहले भी सकेत कर चुके है कि दक्षिण में धर्मान्तरण के विरोध का परिणाम ही था कि नीचे से नीचे तबके के जातियों में से संतों और भक्त का अभ्युदय हुआ और यही बात उत्तर भारत में भी देखने को मिलती है। यहाँ जितने भक्त और संतकवि समाज के बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न किये वे लगभग-लगभग नीची जाति के ही थे।

शास्त्र और लोक मर्यादा की रक्षा के निमित्त सामान्य जन व सामंती मूल्यो में टकराहट देखने को मिलती है जिसके विरोध में अनेक आंदोलन खडे होते दिखाई देते हैं।

वर्णव्यवस्था—

भारत वर्ष में वर्ण और जाति का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। कर्म के आधार पर वर्ण को निर्धारित करने वाला समाज धीरे-धीरे दृढ़ तथा कठोर होता चला गया। उच्चवर्णो का प्रभुत्व तथा उनके द्वारा निम्न दलित जातियों के शोषण ने समाज के व्यवस्था को ही चरमरा दिया। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन चार वर्णो में विभक्त भारतीय समाज (ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में उल्लेख) अनेक जातियों तथा उपजातियों में विभक्त होता चला गया।

अस्तु पहले जो वर्गीकरण कर्म के आधार पर था आगे चलकर ऊँच-नीच की भावना के आधार पर विभक्त हो गया। मध्यकाल तक आते-आते यह स्थिति और जटिल हो गयी। समस्त जनता दास्य बोध से ग्रसित, विचार शून्य होती चली जा रही थी। मानसिक रूप से लाचार मध्यकालीन जनमानस संकीर्णता के दायरे में पीसता चला गया। जिसकी झलक हमें मध्यकालीन भक्ति साहित्य के अन्दर दृष्टिगत होती है।

ब्राह्मण —

वर्णव्यवस्था के नियम 15वीं सदी के आरम्भ में अत्यन्त कठोर थे। कबीर के समय मे विप्रों का आतक शूद्रों पर था इस प्रकार धार्मिक लाभ से वंचित शूद्र ब्राह्मणों से भयभीत रहा

करते थे। तुलसीदास जी कलियुग के ब्राह्मणों का वर्णन रामचरित मानस के उत्तरकाण्ड में करते हुए लिखते हैं कि —

बरन धर्म नहिं आश्रमचारी।

श्रुति विरोध रत सब नर नारी॥

द्विज श्रुति बेचक भूप प्रशासन।

कोऊ नहिं माग निगम अनुशासन॥

अर्थात् सब स्त्री-पुरुष वेद के विरोध में लगे रहते हैं और ब्राह्मणों ने तो वेद को बेचना भी प्रारम्भ कर दिया है। ब्राह्मणों की स्थिति का विवेचन इससे अच्छा और कहाँ मिलेगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जो प्रतिष्ठा ब्राह्मणों की पूर्व मध्यकाल या प्राचीन काल में भारतीय समाज में विद्यमान थी वो धीरे-धीरे नैतिक स्तर पर ह्रास होती चली गयी। वे अध्यात्म की ओर न झुक कर भौतिक सुखों की ओर उन्मुख हो रहे थे।

क्षत्रिय वर्ग —

क्षत्रियों का सामाजिक आदर्श था, शत्रु से युद्ध कर विजय प्राप्त करना और परम्परागत वर्ण व्यवस्था के अनुसार शासन करना। **इलन के अनुसार** मध्यकालीन क्षत्रिय लोग भोग विलास में पूर्णरूपेण जीवन व्यतीत करते थे। वे तम्बुओं के नीचे कालीनों पर विराजमान रहते थे और वाद्य-यन्त्रों के सहित नर्तकियों के नृत्य का आनन्द उठाते फिरते थे।

वैश्य वर्ग—

समाज का तीसरा वर्ग वैश्य था जिसका कार्य व्यापार का था। मध्यकाल में सामाजिक जीवन कठोर था और राज्यों में कलह होने के कारण यह वर्ग भी अपने कार्यो का निर्वहन ठीक से नहीं कर पा रहा था। भक्त कवियों ने ऐसे वैश्यों का उल्लेख किया है, जो कि अपने कार्य में ईमानदारी नहीं दिखाते थे।

शूद्र वर्ग —

यह समाज का सबसे निम्न वर्ग था। इसको समाज में कोई प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं थी। इनका कार्य अन्य तीनों जातियों की सेवा करना था।

उपरोक्त वर्णो में भी जाति के अन्दर अनेक उपजातियों का समावेश होता चला गया जिससे सामाजिक व्यवस्था एक ऐसे कठोर ढांचे मे परिवर्तित होती चली गयी जिसमें घुटन के अलावा और कोई दृष्टि नहीं थी।

यह कितनी बड़ी विडम्बना है कि जिस वर्ण व्यवस्था को इसलिए समाज मे लागू किया गया था कि समाज के प्रत्येक क्षेत्र का कार्य निर्विघ्न रूप से हो सके, उसी ने इतना विकृत रूप धारण कर लिया कि शास्त्र, धर्म, जीवन, मनुष्यता, सब पर से मनुष्य का विश्वास उठता चला गया। जिस समाज में गीता जैसे कर्मवाद का सिद्धान्त मौजूद हो उस समाज की स्थिति इतनी चिन्तनीय हो जायेगी यह एक सोचनीय विषय है।

अत: जाति व्यवस्था में अनुशासन का न होना और धर्मान्तरण के विरोध मे अपने जातीय अस्मिता की रक्षा के निमित्त समाज के निम्न वर्गो से लेकर प्रबुद्ध वर्गो तक के कुछ संत भक्त कवियों ने विचार करना प्रारम्भ किया और इसका परिणाम हुआ, ऐसे विचारों के प्रति विद्रोह की भावना का प्रवेश, दूसरे यह कि जाति परिवर्तन करते हुए हिन्दुओं से धर्म और समाज की रक्षा की भावना।

इस प्रकार जातीय चेतना की भावना ने हमारे मध्यकालीन विचारकों, संतों, भक्तों को सोचने पर बाध्य किया और परिणाम स्वरूप कुछ सांस्कृतिक टकराहट भी दृष्टिगत हुए जैसे—

लोक और शास्त्र के स्तर पर, सामान्य जन और सामंती मूल्यों में, शुद्र और द्विज में तथा निर्गुण और सगुण में।

डॉ० राम विलास शर्मा लिखते है कि "भारत में वर्ण व्यवस्था का मनुवादी रुप परम्परा का नियता रहा है, भारतीय सभ्यता मूलतः ग्रामीण एव पारलौकिक रही है।... ." अतः भारतीय जन मानस, जो ग्रामीण एवं पारलौकिक रही है वह कैसे बर्दास्त कर लेता कि शास्त्रीय मर्यादा सांमती मूल्यों में पीसता सामान्य जन समुदाय शूद्र और द्विजों के संघर्ष से उत्पन्न धर्मान्तरण के प्रति लोलुप निम्न वर्गीय समाज, अपने नैतिक मूल्यों को खोता चला जा रहा है।

अस्तु भक्त तथा संत कवियो ने मध्यकाल मे एक जन चेतना के रूप मे अपने वाणी को मुखरित किया जिसका सर्वप्रथम परिणाम निकला संत काव्य धारा के माध्यम से जन चेतना का मार्ग।

कबीर दास एवं उनके अनुयायियों ने जाति प्रथा का घोर खण्डन किया। निम्न पंक्तियों में कबीर का विचार दृष्टव्य है—

ऐसा भेद विगूचन भारी।

वेद कतेब दीन अरु दुनियाँ, कौन पुरिष कौन नारी।

एक बूँद ऐके मल मूतर, एक चाम एक गूदा।

एक जाति कै सब उतपन्ना, कौन ब्राह्मण कौन सूदा।

माटी का घंड सहजि उतपन्ना, नाद बिन्द समाना।

विनसि गयां थै का नांव धरिहौं, बढ़ि गुनि भ्रम जानो (–कबीरवाणी पद 141)

कबीर के मतानुसार सभी जीव एक ही ब्रह्म द्वारा निर्मित हुए है। जब समस्त संसार की रचना एक ही ईश्वर द्वारा हुई है तो उनमें भेद कहाँ रहा। भक्त कवियों के अनुसार सभी मनुष्यों का जन्म समान रूप से होता है,सभी में भगवान का वास है, ऊँच-नीच की भावना सर्वथा गलत है।

ऊंच नीच सब गोरख-धंधे।

सब हैं उस अल्ला के बन्दे॥

(हरिजन वर्ग और उसका उत्थान, रामजी लाल पृ० 29)

संत कवियों ने समाज में एक नई चेतना जागृत करने का प्रयत्न किया और सभी जीवों में परमात्मा की सत्ता निहित है, का सदेश दिया। इस विश्व में न कोई कुलीन है, न कोई अछूत। धनी-निर्धन, राजा-रंक, ब्राह्मण, शूद्र सभी बराबर हैं। ये सामाजिक मेल समाज द्वारा निर्मित किये गये हैं। ब्रह्म की दृष्टि में सभी समान है।

बांभन सूद वैस अरू खत्री, डोम चण्डाल किन होई।
होई पुनीत भगवंत भजन ते आपु तारि तारे कुल दोई॥

(—संत सुधासार, पहला खण्ड पृ० 183, रैदास शब्द 3)

इस प्रकार सभी संतों ने समाज के समक्ष एक क्रान्तिकारी विचारधारा प्रस्तुत किया । कबीर, नानक, दादू, सुन्दरदास, गरीबदास, मलूकदास आदि ने समाज मे समता की भावना का बीजारोपण किया। संत कवियों की यह देन महत्वपूर्ण मानी जा सकती है, क्योंकि यदि समाज से ऊंच - नीच की भावना समाप्त हो जाए तो संघर्ष एवं प्रतिरोध भी समाप्त हो जाय एवं सुख-शान्ति का पूर्ण रूप से विकास हो। हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष के युग में समन्वय की भावना और जातीय चेतना जागृत करने की भावना एक नवीन मार्ग पर चलने का दिशा निर्देश था।

एक तरफ संत कवियों ने वर्ण व्यवस्था का विरोध करते हुए जाति-पाँति, छुआ-छूत की भावना पर कुठाराघात किया तो दूसरी तरफ सगुण भक्त कवियों ने वर्णाश्रम धर्म तथा वर्ण व्यवस्था को कुछ हद तक बेहतर बताया। फर्क इतना था कि इनका संदेश अपने - अपने कर्तव्य के पालन में निहित था।

मनुष्य का जीवन चार भागों में विभक्त था, यथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास। पाणिनी के काल मे यह व्यवस्था अपने उन्नत दशा में थी। कालीदास ने भी रघुवंश महाकाव्य में आश्रम व्यवस्था की पुष्टि करते हुए राम को उस व्यवस्था के पर्याय के रूप स्वीकार किया है।

'' शैशवे अभ्यस्थ विद्यानाम्
यौवने विषयेशिणाम्।
वारधम्ये मुनि वृत्तिनाम्
योऽग्येनाते तनुज्याम रघुणाम अन्वयम वक्षे॥''

मध्यकाल में मुसलमानों के आक्रमण के कारण भारतीय जनमानस में नैराश्य की भावना व्याप्त हो चुकी थी। इस परिस्थिति में वे अपने अस्तित्व को भूल भोग-विलास में संलिप्त होते गये और परिस्थितिवश आश्रम व्यवस्था लगभग समाप्त प्राय हो चली। संत कवियों ने नाथ तथा बौद्ध सिद्धान्तों के प्रतिकूल प्रवृत्तिमार्गी होने का संकेत देते हुए गृहस्थाश्रम में अपनी निष्ठा को व्यक्त किया।

जन सामान्य अपने कर्तव्यों के प्रति सचेष्ट हो, यह चेतना जगाने का कार्य संत कवियों ने किया। तुलसीदास ने वर्ण-व्यवस्था के समान ही आश्रम व्यवस्था पर अपनी आस्था व्यक्त की है। रामचरित मानस के उत्तरकाण्ड में वे लिखते हैं कि — **वरनाश्रम निज-निज धरम निरत वेद पथ लोग। चलहि सदा पावहिं सुतहिं नहिं भय सोक न रोग॥** (दो० 20)

तुसलीदास के अनुसार गृहस्थ को अपने कुटुम्ब का पालन करना चाहिए, नहीं तो उसकी दशा शोचनीय हो जाती है। समाज में उस समय अकर्मण्यता विद्यमान थी। निवृत्तिमार्गी विचारधारा का प्रभाव समाज पर अधिक था। ऐसे परिवेश में समाज मे प्रवृत्तिमार्गी होने का सदेश निश्चित रूप से जातीय स्थिता को जागृत करने का एक अनूठा प्रयास था। सूरदास ने भी उद्धव-गोपी संवाद मे आश्रम व्यवस्था पर प्रकाश डाला है।

''श्याम राम को संगी यह अलि कीजत यह सन्यास।।

अत: गोपियाँ कहती हैं कि श्रीकृष्ण को सन्यास आश्रम से क्या काम, यह कहकर इसमें सन्यास आश्रम की ओर संकेत किया गया है।

अस्तु संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मध्यकाल में जो जातीय व्यवस्था थी और शैने:-शैने: समाज को खोखला करती जा रही थी सूर, तुलसी आदि कवियों ने उन्हें पुन: स्थापित करने का एक आदर्श समाज में रखा, लेकिन यह जातीय चेतना कतिपय कारणों से उस रूप मे जागृत न हो सकी, जैसा कि सूर और तुलसी आदि भक्त कवियों की कल्पना थी। कबीर आदि संतों के द्वारा जांति-पांति के विरोध ने समाज में एक ऐसे वर्ग को जन्म दिया,जो किसी भी मर्यादा और सम्मान करने में अपने आप को खड़ा नहीं कर पा रहे थे, वस्तुत: वे अपने को किसी भी बन्धन में रहना पसन्द नहीं करते थे। इससे समाज में जो सुधार की कल्पना सतकवियों ने की वो धीरे-धीरे एक दूसरे समस्या का रुप धारण करती दिखायी दी जिसकी पहचान तुलसी दास ने की। तुलसी ने वर्ण-व्यवस्था और वर्णाश्रम धर्म के मूल्यों को स्थापित किया और भक्त तथा भक्ति के माध्यम से मनुष्य को उन मूल्यों के अन्तर्गत रहने का संकेत दिया जो भारतीय परम्परा की पहचान थी। डॉ० राम विलास शर्मा ने लिखा है कि ''वाल्मीकि रामायण में राम की शिक्षा पूरी करने के लिए उनको जाबालि के पास भेजा गया, जो नास्तिक थे। आपको नास्तिक मत भी जानना है, यह यहाँ की शिक्षा में आवश्यक था।'' कहने का आशय यह है कि भारत की एक परम्परा रही है और परम्परा के विरुद्ध जब भी आप अपने आपको स्थापित करेगें तो नि:संदेह सफलता नहीं मिलेगी। अत: गोस्वामी तुलसीदास ने भारतीय परम्परा को पहचानते हुए जन मानस मे लोक जागरण की भावना का विकास अपने ग्रंथों के माध्यम से दिया। भक्त कवियों का प्रदेय मध्यकालीन समाज को अपने स्व: का बोध करने में माना जा सकता है जो आगे चलकर जन आंदोलन का रूप धारण कर लेता है।

(ख) भक्ति तत्व और जन चेतना

इस अध्याय के प्रारम्भ में ही भक्ति पर प्रकाश डाला गया है। यहां जो विवेच्य विषय होगा, वह यह कि मध्यकालीन जनमानस में किस स्तर तक भक्ति तत्व की भूमिका रही तथा भक्ति ने मध्यकालीन जन समुदाय मे किन अर्थो मे जन चेतना को बल प्रदान किया। भारतीय संस्कृति की समाजशास्त्रीय व्याख्या करते हुए डॉ० राम विलास शर्मा लिखते है कि ''भक्ति के मूलत: दो पक्ष है- आत्म परिष्कार और समाज परिष्कार। आत्मपरिष्कार नहीं होगा तो भीतर का सौन्दर्य नहीं दिखायी देगा। समाज रहने लायक तभी बनेगा, जब यह परिष्कृत होगा। केवल शरणागत से काम नहीं चलेगा, प्रयत्न करना पड़ेगा। राम सबके मन में नहीं रहते, उसके लिए पात्रता होनी चाहिए। इसकी शर्ते बहुत बड़ी और कठोर है बिना आत्म परिष्कार के भीतर का सौन्दर्य, राम का सौन्दर्य, ब्रह्म का सौन्दर्य, संसार का सौन्दर्य नहीं दिखाई देगा। हमारे अन्दर जो कमियाँ हैं उनको दूर करना है। अपने मन को सुदृढ करना, आत्मा को शक्तिशाली बनाना है। समाज में जितना प्रदूषण है, पाप है, अपराध है, वह अगर दूर नहीं होगा तो यह संसार रहने लायक नहीं है ? इस संसार, इस समाज को नया रुप देना है। भक्ति के साथ यह प्रयत्न भी कवियों में जुड़ा हुआ है। (आजकल मई 2002 विशेषांक पृ० 43-44)

उपरोक्त कथन में डॉ० शर्मा की जो दृष्टि है वह वास्तविक रूप मे भक्ति तत्व को परिभाषित करती है। समाज में व्याप्त मूल्य जब नैतिक स्तर पर कायम नहीं रह जाते तो परिणाम उस समाज को चूकाना पड़ता है। मध्यकालीन समाज मे जन साधारण वर्ग से लेकर सांमतीय तत्वों तक, सभी एक ऐसे व्यवस्था के शिकार होते चले गये, जिसमें निजता, स्वार्थपरता, अहंकार, आर्थिक शोषण, धार्मिक शोषण, नैतिक शोषण आदि तत्व की प्रमुखता थी। भक्ति हृदय की स्वच्छ निर्मल वृत्ति है, जिसमें आत्मा का परिष्कार हो जाता है और आत्मा का भेदत्व समाप्त हो जाता है। भक्त कवियो ने समाज में आत्मविस्तार पर विशेष

बल दिया। मन के विकास का नाश ही इस संसार से पार कर सकता है कबीर कहते है कि—

जे मन नहीं तजै विचारा, तो म्या तिरियै भौ पारा।

जब मन छाड़े कुटिलाई, तब आई मिलै रामराई॥ (संत काव्य, कबीर पृ० 164)

इसी प्रकार रामभक्त तुलसीदास भी तत्कालीन समाज की विषयाशक्ति को व्यक्त करते हैं। रामचरित मानस के किष्किंधा काण्ड में वह लिखते हैं कि —

नारी नयन सर जाहि न लागा, घोर क्रोध तम निसि जो जागा।

लोभ पास जेहि गरन बंधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया।

यह गुन साधन ते नहिं कोई। तुम्हारी कृपा पाव कोई कोई।

"तुम्हारी कृपा पाव कोई कोई" का आशय स्पष्ट है कि हे राम तुम्हारी कृपा किसी-किसी पर ही होती है।

जिसका मन समाज में समता परक सोच रखता है तुम उसी के हो जाते हो। भक्त कवियों ने समाज में भक्ति की एक ऐसी परम्परा का विकास करना चाहा जिसमें समाज के प्रत्येक वर्ग के लोग अपने समस्त विकारों को त्याग कर नैतिक परक समाज का निर्माण कर सकें। मीरा ने भी मनुष्य के अभिष्ट के लिए काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह को अपने चित्त से निकाल देने का संदेश दिया जिससे मनुष्य ईश्वर के रंग में भीग जाएं—

काम क्रोध मद लोभ मोह कूं बहा चित्त से दीजै।

मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, ताहि के रंग में भीजै।

(मीरा पदावली पृ० 160 पद सं० 191)

अत: संत भक्त कवियों ने भक्ति का जो संदेश दिया उसके पीछे मनुष्य में चेतना जागृत करने का भाव निहित था। धर्म के सहारे जातीय संस्कृति को एक लोक जागरण का रुप प्रदान करना मध्यकालीन भक्त कवियों का मूल उद्देश्य था और इसका परिणाम यह हुआ कि जन आन्दोलन के रूप में भक्ति साहित्य उभर कर सामने आया। धर्म का मूल अर्थ है-चलना, रीत। जिस रीत पर लोग चलते हैं वही उसका धर्म है। सूर्य सवेरे निकलता है, वही उसका धर्म है, शाम को डूबता है, वही उसका धर्म है। धर्म का मूल अर्थ व्यापक है। सामाजिक परिस्थितियों में व्यवहार में जो धर्म आता है उसका रुप बदलता रहता है। हर धर्म बदलता है। हर धर्म का एक नैतिक पक्ष होता है और दूसरा चमत्कार वाला पक्ष होता है एवं तीसरा कर्मकांड वाला पक्ष होता है।

इन तीनों की भूमिका समय अलग-अलग में बदलती रहती है जो गौतम बुद्ध ने कहा वही बौद्ध धर्म नहीं है। जो ईसा मसीह ने कहा, वही ईसाई धर्म नहीं है। जो मोहम्मद साहब ने कहा, वही इस्लाम धर्म नहीं है । बुद्ध, ईसा या मोहम्मद ने दर्शन दिया। बौद्ध, ईसाई या इस्लाम धर्म उस पर आधारित अवश्य है पर धर्म केवल दर्शन नहीं होता। जो सबसे बड़ा धर्म है जिसे सनातन, सर्वकालिक, सार्वभौमिक नैतिक धर्म कह सकते हैं, उसको पहचानना सबसे कठिन है। (आजकल मई 2002 विशेषांक पृ० 44)

अस्तु सनातन,सर्वकालिक,सार्वभौमिक नैतिक धर्म को पहचाना भक्त कवियों ने और परिणामत: भक्तिकालीन समाज का छोटा से छोटा वर्ग भी एकत्रित होता हुआ दिखाई पड़ता है। जो गूज हमें नाथों के प्रयास से उसके समाज में देखने को मिली वह वास्तविक रुप में कबीर, तुलसी तथा सूर के समाज में उभर कर आई।

मध्यकालीन भक्ति नीची से नीची जाति को भी एकत्रित करने मे सफल होती है जिसका उदा० रैदास, रज्जब, सदना, सुंदरदास, दादू दयाल, मलूकदास आदि के रूप में दिया जा सकता है।

इन सभी संत कवियों ने अपने समाज मे व्याप्त बुराइयों को दूर कर एक जातीय चेतना के स्तर पर जनान्दोलन चलाया जो भक्ति साहित्य की एक प्रमुख उपलब्धि के रूप में माना जा सकता है।

वैष्णव भक्ति का पुष्ट दार्शनिक-वैचारिक आधार रहा है और विभिन्न भक्ति धाराओं में इसे देखा जा सकता है। महाभारत के शांतिपर्व के प्रसिद्ध नारायणीय उपाख्यान में भक्ति की जो विस्तृत विवेचन है, वह वैष्णव भावना का उल्लेखनीय प्रस्थान है। वेदों का यज्ञ-कर्मकांड, उपनिषदों का दर्शन यहॉ भावना व्यापार का रूप लेते हैं। श्वेत द्वीप के भक्त जन कतिपय विशिष्ट गुणों से सम्पन्न है : पवित्र, निष्कलंक, इन्द्रियरहित, निराहारी, चेष्टारहित, ज्ञान सम्पन्न, सुगंधित, पाप हीन, दिव्य, मानापमान में स्थितप्रज्ञ। गीता में भी भक्त मूल्यों से सम्पन्न है : द्वेषहीन, स्वार्थरहित, करुण, दयालु, निरहंकारी, राग-विराग से परे, संतुष्ट जितेंद्रिय, दृढ़निश्चयी, गतव्यथ:, परित्यागी, पवित्र, भय, उद्वेग रहित आदि। मूल्य चिंता के साथ गीता में भक्ति का सामाजिक पक्ष भी है। कृष्ण का कथन है : पार्थ, स्त्रियाँ, वैश्य-शूद्र-अंत्यज भी मेरा आश्रय लेकर परमगति पाते है, (9/32)। भागवत, जिसे भक्ति का प्रस्थानग्रंथ कहा जाता है, उसमें भी उदार वैष्णव भावना देखी जा सकती है : भगवान के श्रवण-कीर्तन से श्वान-मांस भक्षी चांडाल भी ब्राह्मण के समान पूजनीय बनता है (3/33/6)। इस प्रकार वैष्णव भावना अपने क्रमिक विकास में उदारवादी दृष्टि अपनाती है। (भक्तिकाव्य का समाजशास्त्र- डॉ० प्रेमशंकर पृ० 26)

अत: देखा जाए तो जो संकेत डॉ० प्रेम शंकर ने किया है वह भक्तिकाल में अपने पूर्ण रूप में उभर कर सामने आता है। आलवार संतों की भावनामय भक्ति में शास्त्र की आचार्यत्व की सीमाएँ टूटती है और भक्ति जनसमुदाय से जुड़ती है और ईश्वर का तादात्म्य यहॉ भक्त से सीधे होता है बिना किसी माध्यम के। आगे चलकर वैष्णव भावना को नई दिशा मिली रामानंद और उनके शिष्य मण्डल द्वारा, जिसमे मै पहले सकेत कर चुका हूॅ कि जुलाहा, चर्मकार, नाई, जाट आदि सामान्य जातियो के लोग भी उसमे सम्मिलित हुए। डॉ०

प्रेमशंकर 'भक्ति काव्य का समाज शास्त्र' में लिखते हैं कि मध्यकाल के सामंती परिवेश को देखते हुए उनकी सामाजिक चेतना सराहनीय कही जायेगी। बल्लभाचार्य ने कृष्ण भक्ति को लिया और सूर जैसी प्रतिमाओं ने उसे कृषि-चरागाही संस्कृति की सहायता से प्रक्षेपित किया। 15वीं - 16वीं सदी में चैतन्य ने जातियों के बंधन तोड़े और विधवा-विवाह तक को प्रोत्साहन दिया। प्रेम को पंचम पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार कर वे वैष्णव भक्ति को नया विस्तार देते हैं ..... भारत में सर्वधर्म-समन्वय की दिशा में उन्होने प्रयत्न किया और बंगाल, असम का पद साहित्य इसका प्रमाण है। (पृष्ठ 27)

उपरोक्त कथन से स्पष्ट है कि मध्यकालीन सामान्य जन भक्ति के तरफ आकृष्ट होता है और भक्त कवियों की सामाजिक चेतना को एक नई दिशा मिलती है।

आलवार संतों की भावमयी धारा, रामानंद का सामाजिक समन्वय रुप, कबीर की ललकार, तुलसी का समन्वय मार्ग, चैतन्य का कीर्तन भाव तथा मराठी संतों का मार्ग समाज को एक नई दिशा देता है। जिसमें कोटि-कोटि जन अपनी स्मिता की पहचान कर सकने में चेतन होते हैं। अतः कहा जा सकता है कि भक्ति सामान्य जन का काव्य है।

जातीय चेतना और भारतीय सांस्कृति के स्तर पर भक्तिकालीन वैष्णवभक्ति मानव धर्म के रूप में अपनी पहचान कायम करती है, जिसमें कर्मकाण्ड का विरोध होता है, जाति-सम्प्रदाय की सीमाएं टूटती हैं, कर्मवाद का सिद्धान्त स्थापित होता है, प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित होता है। इस प्रकार देखा जाय तो वर्ण, जाति, सम्प्रदाय वर्ग की अस्वीकृति वैष्णव-भक्ति की प्रासंगिकता है। अतः भक्ति का प्रभाव मध्यकाल में जन आंदोलन का रूप प्रदान करता है जिससे मानवतावादी अवधारणा उभर कर सामने आती है और 'मनुष्य' केन्द्र में दिखाई देता है।

(ग) जनवादी दृष्टि से भक्ति साहित्य की सामान्य परखः-

भक्ति साहित्य की रचना प्रक्रिया में 'मनुष्य' का केन्द्र में होना – एक ऐसी दृष्टि को जन्म देता है, जिसमें शास्त्रविहित मान्यताओं के ऊपर जन सामान्य का वर्चस्व स्थापित होता है और लोक के स्तर पर सभी मान्यताओं का मूल्यांकन तथा विवेचन अवश्यम्भावी हो जाता है। भक्तिकाव्य मध्यकालीन समाज में एक ऐसा वैचारिक उन्मेष है जो मध्यकालीन सामंती समाज की सीमाओं का अतिक्रमण करती है और एक वैकल्पिक संसार की कल्पना उभर कर सामने आती है।

भक्ति साहित्य वस्तुत: जन पक्षधरता की बात करता है। यहाँ रचना में पंडित पुरोहित वर्ग का परम्परागत ढांचा टूटता है और जन सामान्य केन्द्र में उभरकर आता है। भक्ति साहित्य एक ऐसा जनान्दोलन है, जिसमें शास्त्र तथा लोक के संघर्ष के परिणाम स्वरूप लोक चेतना की स्थापना होती है और एक ऐसे समाज की कल्पना की जाती है, जिसमें समतावादी दृष्टि हो अर्थात् तुलसीदास द्वारा एक राज्य की कल्पना: नहिं दरिद्र कोउ दु:खी न दीना। नहीं कोई अबुध न लच्छनहीना॥ एक आदर्श की स्थापना कवि करता प्रतीत होता है।

अत: भक्त कवियों की कल्पना में सामाजिक चेतना का भाव निहित है। भक्ति काव्य समर्पण आत्म निवेदन के बावजूद भाववेश अथवा कोरी भावुकता का काव्य नहीं है वरन् वह जन सामान्य के अन्दर उनकी अपनी पहचान करने की शक्ति का संचार कर पाता है। भक्ति काव्य में जीवन के विस्तार के साथ वह केन्द्र में होता हुआ अपनी सम्पूर्ण समग्रता के साथ उपस्थित है।

भक्ति काव्य की लोक धर्मिता उसकी सबसे बडी शक्ति है, जिसमें मानवीय पक्ष एक ऐसी ऊर्जा प्रदान करता है जिससे सिद्ध-नाथ-सत और कबीर जैसे कवि समाज स्वीकृत होते है, जो जन अथवा लोक को एक ऐसे धरातल पर अवस्थित करते है कि वह अपना सारा

सुख-दु:ख भूल कर मनुष्य भाग के कल्याण और जाति - पाँति, भेद-भाव, पंडित-पुरोहित वाद आदि के कुचक्रों से छुटकारा पाकर जीना चाहता है और एक ही सत्ता अर्थात् ईश्वर की भक्ति का सीधे साक्षात्कार करता हुआ महसूस करता है।

भक्ति काव्य की सबसे बड़ी देन जनवादी स्तर पर यह कही जा सकती है कि कबीर आदि संतों ने एक तरफ तो मिथ्याडंबर और मुखौटे पर आक्रमण किया तो दूसरी तरफ दुलहिन गाबहुँ मंगलाचार। हमारे घर आए राजा राम भरतार- अर्थात् ईश्वर से स्वयं बिना किसी माध्यम के साक्षात्कार करके जन सामान्य के लिए ईश्वरीय आराधना के लिए मार्ग सुलभ कर दिया ताकि जन सामान्य अपना दु:ख-दर्द बिना किसी रोक-टोक के अपने आराध्य देव से कह सके और आत्म साक्षात्कार कर सकें।

कबीर वस्तुत: सामंतीय समाज की पीड़ा से बखूबी परिचित थे। जिसमें सत्ता में मंदान्ध सामंत, धर्म के कठमुल्लाओं से मिलकर साधारण जन पर अत्याचार किया करते थे। अत: कबीर ने पंडित बात बदंते झूठा; कह कर व्यक्तिवाद की प्रतिष्ठा पर प्रहार करते हैं जिससे समाज में समता मूलक समाज की स्थापना हो सके।

डॉ० प्रेम शंकर 'भक्तिकाव्य का समाजशास्त्र' में लिखते हैं कि भारतीय जीवन में लोकोत्सव एक प्रकार से सामाजिक-सामूहिक चेतना के वाहक हैं, जहाँ व्यक्तिवादी सीमाए टूटती हैं। फाग-होली, चाँचरि, बंसतोत्सव आदि का खुला वर्णन क्या प्रमाणित करता है ? यही कि भक्ति काव्य अकुंठित रचना प्रयत्न है, जीवन से संयुक्त, पर मर्यादा-संयम को स्वीकारता हुआ और जब आत्मानुशासन टूटता है तो रीतिकालीन दुर्गति होती है कि राधा-कृष्ण केवल सुमिरन का बहाना रह जाते हैं। लोकोत्सव के लिए प्राय: कृष्ण काव्य को प्रमुखता दी जाती है . पर जहाँ कही तुलसी को अवसर मिला है उन्होंने राम को लोकोत्सव के बीच उपस्थित किया है, जैसे सीता-राम विवाह प्रसग। जानकी मंगल मे

लोकसमाज की खुली उपस्थिति इस दृष्टि से विचारणीय हैं : ''जग जनमि लोचन लाहु पाए, सकल सिवहिं मनावहिं वर मिलो सीतहिं साँवरो हम हरषि मंगल गावहीं।'' (पृ० 138)

इस कथन से स्पष्ट है कि भक्तिकाव्य मूलत: लोकजीवन का काव्य है। लोक भाषा और लोक संगीत का समन्वय भी जनवादी चेतना को पुष्ट करता है। डॉ० राम विलास शर्मा ने ''भारतीय संस्कृति का समाज शास्त्र विषयक निबंध'' में भारतीय मध्यकाल मे समन्वय पर विचार करते हुए लिखते है कि ''भारतीय परम्परा में मध्यकाल में भी बहुत समन्वय था। एक स्तर पर सूरदास, तुलसीदास जैसे कवि सौन्दर्यबोध का परिचय देते हैं और दूसरे स्तर पर अभिजात वर्ग यहाँ इमारतें बनवाकर, चित्रकला का विकास करके, संगीत का विकास करके इसका परिचय देता है। संगीत दोनों को जोड़ देता है। ध्रुपद की गायकी ऐसी है कि वह दरबार की गायकी है या संतों की गायकी है, यह कहना बहुत मुश्किल है। अधिकांश ध्रुपद गायक मुसलमान थे पर ध्रुपद मूलत: हिन्दू देवी-देवताओं की स्तुति है। जो उदात्त है साहित्य मे संगीत में-वही ध्रुपद है। इस उदात्त की सृष्टि भक्त कवियों ने संगीत में की और इसी उदात्त की सृष्टि अभिजात वर्ग ने इमारतों में की। .... भारत की परम्परा समन्वयवादी रही है। ..... हमारे एक उपास्य देव शिव नटराज हैं। समस्त ब्रह्माड उनका नाट्यमंच है। कृष्ण की बांसुरी, मीरा के नृत्य, वैष्णव कीर्तन-नर्तन, भारतीय मूर्तिकला में शिल्प और नृत्य का संबंध यह सब भारतीय परम्परा को जीवन के उल्लास, ऐश्वर्य कामना और संसार में रमने वाली प्रवृत्तिमार्गी परम्परा प्रमाणित करती है।'' (आजकल मई 2002 पृ० 44-45)

उपर्युक्त उद्धारण देने के पीछे मेरा यह आशय था कि भक्ति साहित्य में जो जन आंदोलन चला वह धीरे-धीरे केवल जन अर्थात लोक अर्थात सामान्य जन तक ही सीमित नहीं रह गया अपितु उसमें आभिजात्य वर्ग ने भी कदम से कदम मिलाकर चलने का शक्ति भर प्रयत्न किया — हाँ इसके पीछे सोच यह जरुर हो सकती है कि धीरे-धीरे पुन: इस आंदोलन को पुरोहित वर्ग का ढांचा प्रदान कर दिया जाए जैसा कि कालान्तर मे इसकी परिणति कुछ हद तक ऐसी ही होती दिखाई देती है।

इस प्रकार देखा जाए तो भक्ति साहित्य ने पुरोहितवाद (खास करके निर्गुण - निराकार संत कवि) के नियंत्रण को कम करने का प्रयत्न किया जिससे जैन तथा बौद्ध धर्म तक को प्रतिक्रान्ति झेलनी पड़ी और जन सामान्य में अपनी पहचान बना सकने के बावजूद उनके विभाजन हुए और भक्ति साहित्य के जन चेतना के आगे उसका स्वर मंद पड़ गया।

भक्तिकाव्य मूलतः ग्राम समाज की केन्द्रीयता को स्वीकारता है। डॉ० राम विलास शर्मा इसे नगरीय संस्कृति का काव्य मानते है, उनकी दृष्टि अलग है। मेरा विनम्र निवेदन है कि डॉ० शर्मा की सोच नगरीय समयता के प्रति एकांतिक सोच है क्योंकि चाहे सूर हो या तुलसी दोनों ने ब्रज तथा अयोध्या के वनों तथा गांवों के मार्मिक स्थलों को बेहतर ढंग से परिभाषित करते हुए उनका आंचलिक विश्लेषण तथा भाव अपने काव्य में गहरे स्तर तक उभारा है। राम का सम्पूर्ण व्यक्तित्व वनवास में उभरकर आता है और सूर की गोपिकाएं मथुरा की नागरिकाओं, विशेषतया कुब्जा को कोसती है। प्रमुख भक्त कवि भारतीय ग्रामजन, सामान्य जन के ईमानदार प्रवक्ता है। इसमें संदेह नहीं।

भक्ति काव्य वस्तुतः समय से मुठभेड़ करता हुआ तीव्र असंतोष के भाव से गुजरता है तथा साथ ही विकल्प की तलाश भी करता है। यह प्रश्न काव्य की जनवादी दृष्टि को उभारता है और मूल्य चिन्ता से उसे जोड़ता भी है।

तुलसी जब स्पष्ट करते हैं कि मेरा काव्य सभी के हित के लिए है : 'कीरति भनिति, भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहं हित होई।' 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' जैसी विचारधारा रचनात्मक स्तर पर गहरी मूल्यवत्ता से जोड़ता है। मध्यकालीन परिवेश में सामती वर्ग भोग विलास में संलिप्त है, मर्यादाएँ मिट गयी हैं, अभिजात्य वर्ग का कर्म पतित है, प्रपंच तथा पाखंड का बोल-बाला है। कही कहीं कलियुग की स्थिति यह है कि : सीदति साधु, साधुता सीदति, खल हुलसत विलसत खलई है। ऐसे परिवेश का दबाव कवि महसूस करते है और सामाजिक स्तर पर मूल्य-चिन्ता में डूबे हुए मार्ग की तलाश में अपने काव्य की

रचना धर्मिता को अर्थवत्ता प्रदान करते हैं। कबीर जब कहते हैं : हम न मरें, मरिहै संसारा' तो यह उनकी गर्वोक्ति नहीं है बल्कि वे अहं के विलय की बात करते हैं। वे वस्तुतः चेतना सम्पन्न कवि है तथा मानववादी अवधारणा को पुष्ट करते हैं। कबीर ने कहा: यद्ध अकास आप जहां बैठे। जोत शब्द उजियारा हो। सेत सरुप राग जहँ फूलै, साई करत बिहारा हो। यहाँ पर आकर सभी पार्थक्य समाप्त हो जाता है। (डा० प्रेम शकंर भक्तिकाव्य का समाजशास्त्र पृ० 142)

भक्ति काव्य मे सुधारवादी दृष्टि को पुरोहितवाद बार-बार अपने नियत्रण में लेना चाहता है। जिस सम्प्रदाय, मठ, पीठ आदि का विरोध कबीर ने किया था, उनके अनुयायियों द्वारा उन्हीं के नाम पर पंथ चलाकर पुरोहित वाद को हवा प्रदान कर दी जाती है। जाति चेतना जो अपने स्मिता की पहचान कर सकने में धीरे-धीरे उभर कर सामने आ रही थी रही सही व्यवस्था तुलसी दास ने परम्परा के निर्वहन में शास्त्रानुमोदित धर्म तथा समाज व्यवस्था का समर्थन करते हैं और इसी नाते अपने लोक धर्म की व्याख्या में आचार्य शुक्ल को वे प्रिय लगते हैं। लोक धर्म की शुल्क जी की परिभाषा है—

''संसार जैसा है, वैसा मानकर उसके बीच से एक-एक कोने को स्पर्श करता हुआ जो धर्म निकलेगा, वही धर्म होगा। जीवन के किसी एक अंग मात्र को स्पर्श करने वाला धर्म लोक धर्म नहीं। .... जिस धर्म की रक्षा से लोक की रक्षा होती है— जिससे समाज चलता है- वह यही व्यापक धर्म है। सत् और असत् भले और बुरे के मेल का नाम संसार है। पापी और पुण्यात्मा, परोपकारी और अत्याचारी, सज्जन और दुर्जन, सदा से संसार मे रहते आए हैं और सदा रहेगे।'' शुक्ल जी आगे कहते है और अब अधिक स्पष्ट होकर कहते है— ''ईसाई, बौद्ध, जैन इत्यादि वैराग्य प्रधान मतों में साधना के जो धर्मोपदेश दिए गए उनका पालन अलग-अलग व्यक्तियों ने चाहे कुछ किया हो, पर सारे समाज ने नही किया। अत: व्यक्तिगत साधना को कोरे उपदेश की तड़क-भड़क दिखाकर लोक धर्म के प्रति उपेक्षा प्रकट करना पाखंड ही नहीं है, उस समाज के प्रति घोर कृतघ्नता भी है, जिसके बीच

काया पली है लोक मर्यादा का उल्लंघन, समाज की व्यवस्था का तिरस्कार, अनाधिकार चर्चा, भक्ति और साधुता का मिथ्या दंभ, मूर्खता छिपाने के लिए वेद और शास्त्र की निंदा,ये सब बातें ऐसी थीं, 'जिनमे गोस्वामी जी की अंतरात्मा बहुत व्यथित हुई' (और शुक्ल जी की अपनी अंतरात्मा भी बहुत व्यथित रही है)।'' (डॉ० शिव कुमार मिश्र-भक्ति आंदोलन और भक्ति काव्य: भक्तिकाव्य और लोकधर्म पृ० 134)

जाहिर है कि शुक्ल जी यहॉ वेद और शास्त्र विहित उन्हीं मार्यादाओं और विचारों का समर्थन कर रहे हैं। जिन्हें समाज के प्रभुत्वशाली वर्गो की देन माना जाता है। (वही पृ० 134)

डॉ० मिश्र इस बिन्दु पर आचार्य शुक्ल को पूर्वाग्रह से ग्रसित मानते हैं लेकिन कवि अपने परिस्थितियों के दबाव को भी अपने काव्य पक्ष से विलग नहीं कर सकता है। भारतीय परम्परा राजाश्रय व्यवस्था पर आधारित व्यवस्था है जिसको एकाएक खारिज कर देना परिस्थिति के दबाव के साथ न चल सकने या उस समाज के मूल्यों को स्थापित न कर पाने जैसा है। तुलसी ने उसी व्यवस्था के अन्तर्गत ऐसे राज्य की कल्पना की जहाँ समस्त जन वर्णाश्रम धर्म में रत रहते हुए अपने-अपने कर्तव्यों का निर्वहन कर सकें। लेकिन जो व्यवस्था और सोच तुलसी अपने स्वप्न के माध्यम से समाज को देना चाहते थे वह उन्हें पूरी नहीं होती दिखी तभी तो वे 'हनुमान बाहुक' में वर्तमान व्यवस्था पर पश्चाताप व्यक्त करते हुए आराध्य को पुकारते हैं और वास्तविक स्थिति का बोध करते हुए लिखते हैं कि :

सीता पति साहेब सहाय हनुमान नितं।

हित उपदेश को महेश मानों गुरु के।

अत: निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि जो समाज वाह्याडंम्बर के दबाव तथा सामंती वर्ग के भोग विलास मे आकंठ डुबा हुआ अपने अध:पतन की ओर अग्रसरित था भक्त

कवियों के वाणी ने एक नयी जनक्रान्ति का रूप पैदा किया और मध्यकालीन समस्त जनता इस जनआंदोलन में हिस्सा लेती हुई, अपने स्वयं की रक्षा तथा आत्म सम्मान पाने हेतु एक ऐसे नद में गोते लगाता है, जिसमें प्रेम, भावावत्सलता, प्रपतिभाव, अहैतुक भक्ति विद्यमान थी और इस आध्यात्मिक चेतना को भी मानववादी अवधारणा के परिप्रेक्ष्य में ही देखा जा सकता है। अस्तु मध्यकालीन सांस्कृतिक जागरण के निर्माण में भक्तिकाव्य की चेतना जन सामान्य की चेतना के रुप में उभर कर सामने आती है।

------oo-----

तृतीय अध्याय

(3) जनवादी आधार पर निर्गुण भक्ति धारा का विश्लेषण

(क) संतकाव्य धारा

(ख) प्रेमाख्यान काव्य धारा

तृतीय अध्याय

जनवादी आधार पर निर्गुण भक्ति धारा का विश्लेषण

समाज के पिछडने पर जनवादी क्रान्ति होती है। जनवादी कार्य सामंत विरोधी कार्य पूरे करता है, वह जमींदारों से समझौता नहीं करता है तथा सामंती अवशेषों का जड से सफाया करती है। इसके बाद समाजवाद की ओर बढ़ने के लिए दूसरी क्रान्ति की जरूरत नहीं होती (मार्क्स और पिछडे हुए समाज - डॉ० राम विलास शर्मा)। यही कारण है कि मध्यकालीन आम जनता, उसका वहुसंख्यक भाग, समाज में सबसे नीचे पड़े हुए उत्पीड़न और शोषण से कुचले हुए लोग, स्वतंत्र रूप से उठ खड़े हुए थे— नया समाज बनाने की अपनी कोशिश में जिसको अभिव्यक्ति मिली निर्गुण भक्ति धारा के अन्तर्गत।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी पुस्तक ''मध्यकालीन धर्म साधना'' में निर्गुण ब्रह्म पर विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि : निर्गुण मात्र अनुमान और तर्क का विषय है। वस्तुत: जब भक्त भगवान के असीम-अचिंत्य गुण प्रकाश रूप की बात करता है तो वह ज्ञानेन्द्रियों के अनुभव की बात नहीं करता, मन द्वारा चिन्तित वस्तु की बात नहीं करता और बुद्धि द्वारा विवेचित पदार्थ की बात नहीं करता। वह इन सबसे भिन्न और सबसे अलग किसी ऐसे तत्व की बात करता है जिसे उसकी अन्तरात्मा अनुभव करती है। वह सत्य है क्योंकि उसे भक्त सचमुच ही अनुभव करता है, लेकिन वह फिर भी ग्राह्य नहीं है। न तो वह मनबुद्धि द्वारा ग्रहणीय है और न वाणी द्वारा प्रकाश्य। जब कभी वह भक्त के हृदय में प्रकट होता है तभी भक्त के हृदय की समस्त सीमाओं में बंधकर सगुण निर्विशेष रुप में ही व्यक्त होता है। यही भक्त का भाव-ग्रहीत रुप है और निर्गुण ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप भी।

वैदिक काल से ही चली आ रही ब्रह्म संबंधी तर्क-वितर्क के अन्तर्गत निर्गुण ब्रह्म

और सगुण ब्रह्म पर अनेक साक्ष्य हमारे भारतीय बाङ्मय में उपलब्ध हैं। इस संबध में ऋषि भाव और वास्कलि की बहुश्रुत कथा का उद्धरण किया जा सकता है। वास्कलि ने जब ऋषिभाव से पूछा कि ब्रह्म क्या है और कुछ भी उत्तर न पाने पर बार-बार पूछा तब भाव ने यही उत्तर दिया कि मैं बता तो रहा हूँ, तुम समझ नहीं रहे कि आत्मा मौन है (ए हिस्ट्री ऑव् इण्डियन फिलॉसफ़ी-दास गुप्ता, पृ० 45)। कहने का भाव यह था कि ब्रह्म को शब्द में व्यक्त नहीं किया जा सकता और आत्मा शब्द का सम्बंध परम शक्ति से होता है।

ब्रह्म संबंधी अवधारणा मे शंकराचार्य ने कहा 'न नास्ति ब्रह्म' (तैतिरीय उपनिषद, वल्ली2, अनुवाक 6, शांकर भाष्य पृष्ठ 157) और ऋग्वेद में एक ही ईश्वर को अनेक नामों से अभिहित किया गया है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरयो दिव्यः स सुपर्णो गुरुत्मान्।

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि यमं मातारिश्वानमाहुः॥ (ऋग्वेद 1/164/46)

अर्थात् - वह (ब्रह्म) एक है लेकिन विद्वानों ने उसे इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य सुपर्ण, गुरुत्मान, यम, मातरिश्वा (वायु) आदि नामों से पुकारा है।

वस्तुतः वैदिक संहिताओं में ईश्वर के अनेक नामों का उल्लेख किया गया है। 'आत्मा' के प्रयोग का आधिक्य है और दूसरा वाचक शब्द है 'पुरुष'। कुछ मनीषियों का कहना है कि ब्रह्म संबंधी संहितान्तर्गत श्रुतियाँ निर्गुण पुरुष का वर्णन करती है। वह 'अक्षरात्परतः परः' के रूप मे अभिव्यक्त हुआ है। वह निर्गुण पुरुष ऐश्वर्य से विमुक्त है, उसे किसी भी विशेषण से विभूषित नहीं किया जा सकता (हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास-प्रथम भाग पृ० 431)।

पंचदशीकार का कथन है कि वेद में प्रणव की जितनी भी उपासनाएँ है वे प्रायः सबकी सब निर्गुण ही हैं। कही-कही सगुण का आभास होता है—

प्रणवोपास्तयः प्रायो निर्गुण एव वेदगाः।

क्वचित् सगुणताप्युक्ता प्रणवोपासनस्य हि।'' (श्लोक 147)

अतः स्पष्ट होता है कि वैदिक काल में ब्रह्म का स्वरूप निर्गुण तथा सगुण दोनों रूप में विद्यमान था। 'श्वेताश्वेतरोपनिषद्' में ब्रह्म के लिए स्पष्ट रूप से निगुर्ण शब्द का प्रयोग किया गया है :—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।

कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥ (श्लोक 6,11)

कठोपनिषद में निर्गुण ब्रह्म के बारे में कहा गया है कि 'न एषः सुविज्ञेय' अर्थात वह सहज ही समझ में आने वाला नहीं, वह अत्यंत सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। वह 'महान्त विभुमात्मानं' अस्थिर शरीर में, शरीररहित एवं अविचल भाव से स्थित है—

अशरीरं शरीरेष्वनव स्थेष्ववास्थितम्।

महान्त विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥ 22॥ कठोपनिषद्।

अस्तु निर्गुण ब्रह्म शब्दरहित, स्पर्शरहित, रुपरहित, रसरहित, गंधरहित, विनाशरहित, नित्य, अनादि, अनन्त सर्वथा सत्य है—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्चयत्॥

अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रच्यते ॥15॥ कठोपनिषद्।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि उपनिषद का वर्ण्य विषय ब्रह्म की स्थापना ही प्रतीत होती है अर्थात् उपनिषदों का झुकाव निर्गुण ब्रह्म के प्रति अत्यधिक है।

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में निर्गुण की अपेक्षा सगुण का विवेचन अधिक है। लेकिन कहीं-कही ब्रह्म को अव्यक्त बताकर ब्रह्म को उस अव्यक्त से परे भी कहा गया है—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।

शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥ 31॥ गीता, अध्याय 13॥

सांख्यसूत्राकार ने ''प्रमाणाभावद्नतात्सिद्धिः'' के कारण ईश्वर की सत्ता को ही स्वीकार नहीं किया है। लेकिन कपिल ने आत्मा की सत्ता को स्वीकार करते हुए उसे 'निर्गुण' विशेषण से विभूषित किया। योगसूत्राकार पतंजलि ने ईश्वर की परिभाषा देते हुए लिखा है कि—

'क्लेश कर्म विपाकाशयैरपराभृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः।'' (सूत्र 10)

अर्थात् ईश्वर क्लेश कर्म विपाक और आशय से अपराभृष्ट पुरुष विशेष है। निष्कर्षतः पंतजलि ने ईश्वर को निर्गुण ही माना।

भागवत पुराण का मध्ययुगीन भक्ति आंदोलन पर विशेष प्रभाव पड़ा है। भागवत में ब्रह्म के दो स्वरूप को माना गया है— निर्गुण और सगुण। दोनों का एक साथ उल्लेख भी दृष्टव्य है—

नमस्तुभ्यमनंताय दुर्वितर्क्यात्मकर्मणे।

निर्गुणाय गुणेशाय सत्वस्थाय च सांप्रतम् ॥ 50॥

(श्रीमद्भागवत्, अष्टम् स्कन्ध, अध्याय 51)

ब्रह्मवैवर्तपुराण में इस प्रकार का विवेचन है कि आप ही निर्गुण और निराकार हैं और आप ही सगुण हैं। आप ही साक्षी रूप हैं, निर्लिप्त हैं और परमात्मा हैं। प्रकृति और पुरुष के आप ही कारण हैं (कृष्ण जन्म खण्ड-1,36,37) और इसी रूप में शिल्प की व्याख्या भी सृष्टि के रचयिता के विशेष संदर्भ में की गयी है।

इस प्रकार देखा जाए तो शंकराचार्य के परवर्ती आचार्य रामानुज ने ईश्वर को प्रकृत गुणों से रहित मानते हुए उसे कल्याणकारी गुणों से पूर्ण माना। श्रुतियों के 'नेति-नेति' को समझाते हुए रामानुज कहते हैं कि जितना उसको कहा गया है उतना ही वह नही है। ब्रह्म

सत्, चित्, आनन्द इन तीनों गुणों से युक्त है।

अत: रामानुज ने ईश्वर के निर्गुण रूप को स्वीकारते हुए भी सगुण साकार स्वरूप की सतर्क स्थापना की। रामानुज ने विष्णु नाम से ब्रह्म को अभिहित कर वासुदेव को षडैश्वर्य गुणों से युक्त प्रथम व्यूह मान 'लक्ष्मी नारायण' की उपासना का प्रचार किया तथा रामानन्द ने 'राम' को परमइष्ट के रूप में ग्रहण किया।

अत: उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि ब्रह्म का निर्गुण और सगुण दोनों रूप आदिकाल से ही किसी न किसी रूप में भारतीय समाज मे वर्णित तथा व्यावहारित होता चला आया है कहीं किसी की स्थापना अधिक है तो कहीं किसी की।

अस्तु निर्गुण भक्ति धारा को मध्यकाल में किस रूप में विवेचित तथा व्यवहारित किया गया तथा इसके अन्तर्गत जनवादी मूल्य कहाँ-कहाँ और किन रूपों में हैं— इसका विवेचन आगे किया गया है। निर्गुण ब्रह्म वस्तुत: विश्व में पूर्ण रूप से व्याप्त होने पर भी पूर्ण रूप से उसके परे हैं। यह प्रसिद्ध श्लोक इस बात की पुष्टि करता है—

ॐ पूर्णमद: पूर्णमिदम् पूर्णात्पूर्णयुदच्यते।

पूर्णस्य पूर्णमदाय पूर्णमेवावशिष्यते॥ (वृहदारण्यकोपनिषद, 2,5,19)

जैसा कि पिछले अध्याय में यह विवेचन हो चुका है कि मध्यकाल का आशय एक ऐसी व्यवस्था के रूप में है जिसमें एक खास प्रकार की पतनोन्मुख और जबदी हुई मनोवृत्ति के भाव स्पष्ट रूप में देखे और समझे जा सकते हैं। परिणामत: '' मध्ययुग का मनुष्य धीरे-धीरे विशाल और असीम ज्ञान के प्रति जिज्ञासा का भाव छोड़ता जाता है तथा धार्मिक आचारो और स्वत: प्रमाण माने जाने वाले आप्त वाक्यों का अनुयायी होता जाता है। (मध्यकालीन धर्मसाधना- आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी)।

अत: मध्यकालीन जनसमुदाय जो जातीय तथा वर्ण व्यवस्था के कुचक्रों में फंसा

हुआ धार्मिक रूप से भी अपने को त्राणकारी के रूप में आश्रय ढूढ़ रहा था ऐसे में रामानंद के शिष्य कबीर ने वेदविहित निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप को समाज के जन साधारण में व्याप्त तथा प्रतिष्ठित किया जिससे सामान्य जनता जो मंदिरो और मठो में न जा सकती थी- साधनात्मक स्तर से ईश्वर के ऐसे स्वरूप को जो घट-घट में व्याप्त है, को स्वीकार किया जिससे जातीय बंधन में शिथिलता आई। इसी में जनवादी चेतना का भाव छिपा है।

जब साधक उस निगुर्ण ब्रह्म को उपलब्ध करने हेतु साधना के क्षेत्र में अग्रसर होता है उस समय वह देखता है कि परमात्मा की अनन्त शक्ति उसका एक गौण लक्षण है। परमेश्वर जो विश्व का कर्ता, धर्ता-नियंता, शासक और अधिपति ही नहीं, व्यापक तत्व भी है, वह घट-घट में, कण-कण में, अणु-परमाणु में व्याप्त है, वही एक मात्र हमारे अन्दर सार वस्तु है। कबीर दास कहते हैं कि 'कबीर का स्वामी रहया समाई'। दादू इस तथ्य के निहितार्थ पर कहते हैं कि वह व्यप्ति इतनी गहन है कि व्यापक और व्याप्त में कोई अन्तर नहीं रह जाता।

निगुर्ण विचारधारा के साधकों ने निर्गुण ब्रह्म की अनुभूति के अभिव्यक्तिकरण के प्रयास कितने सूक्ष्म और सुन्दर हैं— प्रकाश डाला। निगुर्ण ब्रह्म की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है इस सम्बंध में संत एवं द्रष्टा ने एक मत से पहली और अन्तिम बात मानी — आत्मसमर्पण। सम्पूर्णरुपेण आत्मसमर्पण ब्रह्मानुभूति के लिए सबसे अधिक आवश्यक तत्व माना गया है। यही निर्गुण ब्रह्म के प्रति जन सामान्य का भाव उनके मन तथा हृदय में अपने स्व तथा आत्म प्रकाश की भावना का संचार करता है, जो जन साधारण के लिए मध्ययुग में एक 'मनुष्य' के रूप में जीने के लिए अति आवश्यक आवश्यकता थी।

निर्गुण साधना में दूसरी बात पर जो जोर है, वह है-प्रत्येक प्रकार की रूढ़ि एवं जर्जरित मान्यता का खण्डन।

तीसरी, जिस बात पर बल दिया गया वह है-गुरू का महत्व। इस विचारधारा में गुरू की प्रतिष्ठा कही-कहीं ब्रह्म तथा अलौकिक आनन्द से भी ऊपर की गयी। कबीर का कथन है कि सतगुरू प्रीति के साथ हृदय को शब्दज्ञान के बाण से विद्ध कर देता है।—

सतगुरु लई कमाण करि, वांहण लागा तीर।

एक जु बाह्या प्रीति सूँ, भीतरि रहया सरीर॥ 6॥ (कबीर ग्रंथावली पृ० 1)

अस्तु निर्गुण विचारधारा में तीन बातों पर विशेष बल दिया गया— आत्मसमर्पण, रुढ़ि एवं जर्जरित मान्यता का खण्डन तथा गुरू की महत्ता सर्वोपरि।

अत: निर्गुण ब्रह्म के उपासकों ने जन साधारण मे ईश्वर के प्रति सम्पूर्ण समर्पण की भावना को प्रतिष्ठित किया, जिससे धार्मिक रूप से सूखे पड़े हृदय में एक नयी शक्ति का संचार हो सके और जन सामान्य अपने ब्रह्म के प्रति अपना समर्पण करके सतोष प्राप्त कर सके।

बाह्य रूप से निर्गुण विचार धारा पर ध्यान देने पर स्पष्ट होता है कि निर्गुण विचार धारा में मूर्तिपूजा का विरोध, लीला गायन पर अविश्वास तथा कर्मकाण्ड की निरर्थकता पर बल दिया जाता है, जो तत्कालीन समाज की मांग भी थी। कवि तथा विचारक अपने समय के मूल्यों के दबाव से अनुप्रमाणित रहता है तथा उन मूल्यों को पुन: स्थापना में ही अपनी रचना-धर्मिता का ताना-बाना बुनता है। निर्गुण भक्ति धारा भी अपने समाज के मूल्यों को पुन: स्थापित करती प्रतीत होती है, जिसमें साधक के लिए मूर्ति एवं अवतार का कोई महत्व नहीं, परिणामत: लीला तथा कर्मकाण्ड का प्रश्न ही नहीं उठता। यहॉ विचारणीय प्रश्न है कि मध्यकाल में धर्म तथा भक्ति का ताना बाना मठों तथा मस्जिदों के चाहरदिवारों में बैठ कर पंडित तथा कठमुल्ले अपने अनुसार निर्धारित करके समाज में एक कुण्ठा और मूल्यहीन व्यवस्था को प्रोत्साहन दे रहे थे, जिसमें उनका हित सर्वोपरि था - वर्चस्व का। ऐसे परिवेश में निर्गुण ब्रह्म की उपासना पद्धति जिसमें भक्तों ने प्रवृत्तिमार्गी होने का संदेश दिया निश्चय ही जन साधारण के लिए ग्राह्य था, जिसमें से अपने स्मिता की पहचान तथा जातीय बोध की चेतना उभर कर सामने आयी और यह विचारधारा अपने बदले हुए रूप में सभी दलित तथा शोषित मनुष्य के लिए एक जन आंदोलन के रूप में उभर कर प्रतिष्ठित हुई— जिसमे जनवादी मूल्य गहरे स्तर तक विद्यमान हैं।

अत: इन मूल्यों का निर्धारण निर्गुणभक्ति धारा के दो रूपों संतधारा तथा प्रेमाख्यान धारा के अन्तर्गत किया गया है।

(क) संत काव्य धारा

'संत' शब्द का प्रयोग आज 'सज्जन', 'साधु' 'भक्त' एवं सत्पुरूष के अर्थ में प्रचलित है। हिन्दी में 'संत' शब्द सगुण, निर्गुण, सूफी, बाउल तथा सभी प्रकार के महात्माओं के लिए प्रयुक्त होता है। किसी समय यह शब्द मात्र विट्ठल अथवा वारकरी सम्प्रदाय के प्रमुख प्रचारकों के लिये प्रयुक्त होता था। प्रो० रानाडे के मतानुसार कालान्तर में 'सत' शब्द रूढि सा हो गया जिसका प्रयोग मात्र विट्ठल सम्प्रदाय के अनुयायी तक ही सीमित हो गया।[1] चिन्तन पद्धति तथा दार्शनिक सिद्धान्तों में सादृश्य होने के कारण कबीर तथा उनके परवर्ती महात्माओं के लिए भी 'संत' शब्द व्यवहृत होने लगा।

महाभारत में 'संत' शब्द का प्रयोग सदाचारी के लिए हुआ है।[2] भागवत में पवित्रात्मा के लिए इसका प्रयोग हुआ है।[3] रामचरित मानस में सज्जन, साधु, सत्पुरुष एवं भक्त शब्द संत के पर्यायवाची माने गये हैं।

शम् शब्द से 'कशभ्या बभपुरिततुतपस:' अष्ठा0 5/2/1388/ इस पाणिनीय सूत्र द्वारा'त' प्रत्यय होकर शान्त शब्द बनता है जिसका अर्थ है—

'शं सुखं ब्रह्मानन्दात्मकं विद्यते यस्य। अर्थात् ब्रह्मानंद सम्पन्न व्यक्ति। इसी का अपभ्रंश 'संत' शब्द है।

---

1 Now 'Santa' is almost a technical word in the Vithal Sampradaya and means any man who is a followers of that Sampradaya Now that the followers of other Sampradaya are not 'Sants' but the followers of the Vara Kari Sampradaya are Sants per excellene

— Mysticism in Maharastra-R D Ranade p 42

2 आचारलक्षणा धर्म सन्तश्चारलक्षणा:।

3 प्रायेणतीर्थाभिगमापदेशै: स्वय हि तीर्थानि पुनन्ति सत:। स्क० 1 अ० 19 श्लोक 8

श्री परशुराम चतुर्वेदी ने अपनी पुस्तक 'उत्तरी भारत की संत परम्परा' में संत शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'संत' शब्द हिन्दी भाषा के अन्तर्गत एक वचन में प्रयुक्त होता है। किन्तु यह मूलतः संस्कृत के शब्द 'सत्' का बहुवचन है। 'सत्' शब्द भी (अस = होना) धातु से बने हुए सत् का पुल्लिंग रूप है, जो सत् प्रत्यय लगाकर प्रस्तुत किया जाता है और जिसका अर्थ केवल होने वाला व रहने वाला हो सकता है। यदि 'संत' की व्युत्पत्ति 'सत्' है, मान ली जाय तो इसका अर्थ होता है, 'नित्य और अव्यय'। वैदिक साहित्य में यह शब्द ब्रह्म के लिए प्रयुक्त हुआ है। छान्दोग्य उपनिषद में कहा गया है: सदैव सौम्पेदमगे, आसीदेकमेवा द्वितीयम्[1] अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में केवल एक अद्वितीय 'सत्' ही वर्तमान था। ऋग्वेद के अनुसार 'सुपर्ण अविप्राः कवयो वाचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पपन्ति। अर्थात् क्रांतिदर्शी ब्राह्मण उस अद्वितीय एवं अद्वैत सत् का ही वर्णन अनेक प्रकार से किया करते हैं।[2] गीता भी इसी रूप का समर्थन करता है।[3]

अस्तु उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि संत वही है, जो चिरन्तन सत्य की अनुभूति कर चुका है और जो द्विव्य मधुर ज्योति के दर्शन प्राप्त करके उसी में सापुज्य प्राप्त कर चुका है। तुलसी ने कहा भी है कि 'जानेसु संत अनन्त समाना है'' अर्थात् संत और अनन्त को एक ही मानना चाहिए, पृथक नहीं।

अतः हिन्दी में बौद्ध धर्म की जो प्रवृत्तियाँ सिद्धों से होती हुई नाथों तक पहुँची थी, उन्हीं प्रवृत्तियों से प्रभावित होकर संत मत का उदय हुआ। संतों की शांत भावना ने एक ऐसे भाव का संचार किया, जिसमें मध्यकालीन समस्त जन समुदाय, संतों के आचार-व्यवहार,

---

1 छान्दोग्य उपनिषद द्वितीय खण्ड।

2 ऋग्वेद 10-114-5।

3 ओऽम तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणिस्त्रिविद्यः स्मृत०। गीता 17/23)

विचार, प्रवृत्तमार्गी विचारधारा, जाति-पाँति संबंधी धारणा और सबसे अधिक तत्कालीन समाज में मनुष्य को मानव के स्तर पर प्रतिष्ठित करने की जो भावना उनमें विद्यमान थी, काफी हद तक प्रभावित हुआ और अपनी रुढ़िवादी संस्कृति से बाहर निकलकर इन संतों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर ऐसे पंथ के निर्माण में सहयोग दिया, जहाँ ऊंच-नीच की भावना नहीं थी, भेदभाव का समाज नहीं था, आर्थिक रूप से सम्पन्न और विपन्न होने की भावना नही थी, वहाँ थी तो बस प्रेम की लौ जिसके प्रकाश में आनन्द ज्योति की अनुभूति सामान्य जन कर सका और एक जनवादी संस्कृति के रूप में अपनी पहचान बना सकने मे कामयाब रहा।

इस काव्य धारा में प्रेम पर विशेष बल दिया गया है। 'ढाई आखर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय' यह सिद्ध करता है कि इस शाखा के प्रवर्तकों के लिए प्रेम सर्वोपरि था। इस शाखा के समस्त काव्य संसार के केन्द्र में एक ही सत्य विद्यमान है— स्वानुभूति।

इस काव्य परम्परा के भक्त संत कवि लौकिक विषय व्यापार से ऊपर संसार में रहते हुए संसार से दूर हैं—जिसका विषय है-सत्य के मार्ग का अन्वेषण।

भारत वर्ष में दो प्रकार का अत्यन्त स्पष्ट सामाजिक स्तर था। एक में, शास्त्र के पठन-पाठन की व्यवस्था थी और उनके आदर्श पर संगठित सामाजिक व्यवस्था के प्रति सहानुभूति थी और दूसरे में, सामाजिक व्यवस्था के प्रति तीव्र असंतोष का भाव था। (मध्यकालीन धर्मसाधना, संत साहित्य की सामाजिक पृष्ठभूमि पृ० 86)।

संत साहित्य के पृष्ठभूमि में आचार्य हजारी प्रसाद के कुछ और कथनों को उद्धृत करना चाहेंगे—

''ईस्वी सन् की 6ठीं - 7वी सदी के आस-पास एक विशेष प्रवृत्ति का परिचय इस देश मे पाया जाता है। बहुत से धर्म मतो को नीचा दिखाने के लिए उन्हें वेदवाह्य कह दिया

जाता है। यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे बढ़ती ही जाती है। (मध्यकालीन धर्म साधना, संत सा० की सा० पृ०)

इस प्रकार आगे चलकर ''7वीं - 8वीं सदी के तांत्रिकों में वेद विहित आचार को हेय घोषिय करने की प्रवृत्ति बहुत तीव्र है। मध्यकालीन धर्म साधना में हजारी प्रसाद द्विवेदी ने आचार पर प्रकाश डालते हुए लिखा कि आचार सात प्रकार होते हैं।

(1) वेदाचार — इसको सबसे हेय आचार माना गया जिसमे वैदिक काव्य, कर्म, यज्ञ आदि विहित है।

(2) वैष्णवाचार— इसके अन्तर्गत निरामिष भोजन और पवित्र भाव से व्रत, उपवास, ब्रह्मचर्य और भजन-पूजन का विधान है।

(3) शैवाचार— इसके अन्तर्गत यमनियम, ध्यान धारणा, समाधि और शिव शक्ति की उपासना पर बल दिया गया है।

(4) दक्षिणाचार— उपरोक्त तीनों आचारों का पालन करते हुए रात्रि में भंग आदि मादक वस्तुओं का सेवन और इष्ट मित्रों का जप इसमें विहित है।

(5) वामाचार— आत्मा की शक्ति के रूप में कल्पना करके - साधना विहित है।

(6) सिद्धान्ताचार— इसमें मन को अधिकाधिक शुद्ध करके वृद्धि को विकसित करने का उपदेश है।

(7) कौलाचार— इसमे कोई नियम नही था।

उपरोक्त आचारों में क्रमशः तीन पशु भाव के अन्तर्गत माने गये हैं तथा दक्षिणाचार को उपरोक्त में श्रेष्ठ। ये सभी वैदिक आचार को तुच्छ मानते थे। इसके अतिरिक्त योगाचार की भी परम्परा सिद्धों तथा नाथों के सम्प्रदायो में दृष्टिगत होती है। जो कालान्तर में लोकाचार

के रूप में उभर कर जन सामान्य में प्रतिष्ठित होता है, जिसके रूप कबीर के सामाजिक विचारों में निहित हैं। यद्यपि कबीर की जो सामाजिक रचना दृष्टि है लोकाचार को पूर्ण रूप से पचा न पाने के कारण सृजनात्मक न होकर ध्वंसात्मक लगती है। अस्तु उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि समाज किस प्रकार के कुचक्रों में फंसा अध: पतन की तरफ जा रहा था।

इसी उथल-पुथल के बीच सत काव्य धारा का जन्म हुआ। यद्यपि ''मुसलमानों का प्रवेश इस देश के एक भू-भाग मे 7वीं - 8वीं सदी में ही हो चुका था, लेकिन प्रभावशाली आक्रमण 10वीं सदी के बाद होने लगा, यह बड़ा विकट काल था।'' (मध्यकालीन धर्मसाधना- आचार्य हजारी प्रसाद)।

इस प्रकार एक ऐसा सांस्कृतिक सकट उत्पन्न हुआ जिससे सारा देश दो प्रधान प्रतिस्पर्धी धार्मिक दलों में विभक्त हो गया— जिससे अनेक प्रकार के कुरीतियों ने जन्म लिया और इन्हीं कुरीतियों पर आक्रमण किया संत काव्य धारा के कवियों ने। अत: स० 1550 से 1700 वि० तक के समय को हम संत मत का विकास काल कह सकते हैं। इस विकास काल में कई प्रवृत्तियों का समावेश संत मत में होता दिखता है—

(क) पंथ और सम्प्रदाय प्रवर्तन की प्रवृत्ति

(ख) संतो की वानियों के संग्रह का प्रयत्न

(ग) रचनात्मक साहित्य की ओर क्रमश: झुकाव

(शिव नारायणी सम्प्रदाय और उसका साहित्य - डॉ० रामचन्द्र तिवारी, पृ० 39)

अस्तु सत कवियों के वाणियों में किन-किन स्थानों पर जन चेतना का भाव दृष्टिगत होता है क्रमश: उसका मूल्याकन आगे किया गया है—

संत साहित्य के प्रमुख हस्ताक्षर के रूप मे 1400 ई० के आस-पास कबीर का जन्म हुआ। वैसे आम तौर पर संत साहित्य की परम्परा कबीर से मानी जाती है लेकिन डॉ०

पीताम्बर बड़थ्वाल, जयदेव से ही इसका अविर्भाव मानते हैं तो डॉ० रामकुमार वर्मा, नामदेव की रचनाओं से। कबीर के एक कथन से ही उपरोक्त विचारों की पुष्टि हो जाती है—

"सनक सनन्दन जैदेव नामा भगति करी मन उनहुं न जाना" से स्पष्ट होता है कि कबीर के पूर्व उनकी ही परम्परा मे होने वाले 'जैदेव' और 'नामदेव' नाम के संत हो चुके थे।

इस अध्याय का जो वर्ण्य विषय है उसका 'जैदेव' व 'नामदेव' के काव्य में सर्वथा अभाव है। हाँ रामानंद के विचार और सिद्धान्त, उनकी भक्ति पद्धति, जाति-पाँति विरोध का सीधा प्रभाव संत साहित्य पर था, जो जन साधारण को जगाने की भावना के केन्द्र में है। वार्करी सम्प्रदाय के भक्तों में सर्वप्रथम भक्त ज्ञानेश्वर ने भक्त के वास्तविक रूप को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिस प्रकार आकाश से गिरने वाली बूँद पृथ्वी के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं जा सकती, जिस प्रकार गंगा अपने सम्पूर्ण जल प्रवाह के साथ समुद्र में ही विलिन होती है, उसी प्रकार सच्चा भक्त अपने सम्पूर्ण राम के (साध्य के) स्वरूप में विलिन होकर एक हो जाता है। जिस प्रकार दुग्ध का समुद्र तट से लेकर अपने सम्पूर्ण विस्तार में दुग्ध के अतिरिक्त और कुछ नहीं, उसी प्रकार सच्चा भक्त विश्व के सम्पूर्ण विस्तार में साध्य का दर्शन करता हुआ सभी को अपने राम का आधार बनाता है। संत ज्ञानेश्वर के अनुसार इस प्रकार की दृष्टि प्राप्त कर लेना ही वास्तविक भक्ति है।[1]

(शिवनारायणी सम्प्रदाय और उसका साहित्य-डॉ० रामचन्द्र तिवारी, पृ० 22)

---

1 As the rain that dropped from above knows no other place except the earth to fall upon, or as the Ganges with all the wealth of her waters searches the ocean and meets it over and over again, similarly the true devotee with all the riches of his emotions, and with unabated love, enters into My being, and becomes one with me As the ocean of milk is milk allover, whether on the shore or in the middle of the sea, similarly he should see as the supreme object of his love, for from the ant on wards through all existences Jaanesvara tells us that true devotion means the vision of such an identity through difference - Mysticism in Maharashtra P 112

और यही भाव लेकर संत साहित्य के प्रमुख हस्ताक्षर कबीर का उदय होता है और उनके वाणियों में 'राम' को घट-घट मे व्याप्त देखा जाता है। जैसा कि 'संत' से ही अभिप्राय है कि वह पवित्रात्मा और सदाचारी पुरुष जिसने सत् रूपी परमात्मा का अनुभव कर लिया हो। हिन्दी साहित्य कोश (भाग एक) में लिखा है कि ''विशिष्ट लक्षणों के अनुसार 'संत' शब्द का व्यवहार केवल उन आदर्श महापुरुषो के लिए किया जा सकता है, जो पूर्णतः आत्मनिष्ठ होने के अतिरिक्त समाज मे रहते हुए निःस्वार्थ भाव से विश्वकल्याण मे प्रवृत्त रहा करते हैं।'' (पृ० 698)। इस प्रकार कबीर ने अपने वाणियों मे जन सामान्य के हृदय को तृप्त करने वाली, मनुष्यता के स्तर पर प्रतिष्ठित करने वाली भावनाओं का एक व्यापक स्तर पर प्रचार-प्रसार मिला।

प्रेम जीवन का सार है। वह अभावों को पूर्ण रुपेण भर देता है। दरिद्रता, पीड़ा, अभाव, दुःख सब एक ही शब्द के पर्याय हैं। प्रेम में सम्पूर्ण विकारों को दूर करने की शक्ति निहित होती है। कबीर के पूर्ववर्ती समाज में सबसे प्रबल सम्प्रदाय नाथ पंथी योगियों का था। नाथ पंथियों पर प्रकाश डालते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने यह तो स्वीकार किया है कि जनता का ध्यान वे कुछ आकृष्ट कर सके थे, लेकिन उनकी तन्त्रमंत्र से युक्त साधनाओं ने उपवास और होमाचार को ही जनता के लिए मार्ग सुलभ कराया जो मुसलमानी आक्रमण के कारण धीरे-धीरे समाज को पथभ्रष्टता की ओर अग्रसारित करता गया। आचार्य द्विवेदी जी लिखते हैं : ''ये गुणातीत शिव या निर्गुण तत्व के उपासक थे। पर इनकी उपासना ध्यान और समाधि के द्वारा होती थी। विविध भॉति की शारीरिक साधनाओं के द्वारा, जिन्हें काया-साधना कहते थे, लोग परम तत्व को पाने के प्रयासी थे। इनमें जो सिद्ध, साधक और अवधूत थे वे घरबारी नहीं होते थे. पर इनके शिष्यों के बहुत से आश्रम भ्रष्ट गृहस्थ थे, जो योगी जाति का रूप धारण कर चुके थे। हिन्दू धर्म इन आश्रम भ्रष्ट गृहस्थों का सम्मान तो करता ही न था, उल्टे उन्हें तिरस्कार की दृष्टि से ही देखता था। ये आश्रम भ्रष्ट गृहस्थ न तो हिन्दू थे - क्योंकि वे हिन्दुओं के किसी मत या आचार के कायल न थे और न मुसलमान — क्योंकि

इन्होंने इस्लामी धर्म मत को स्वीकार नहीं किया था। कुछ काल के इस्लामी संसर्ग के बाद ये लोग धीरे-धीरे मुसलमानी धर्म मत की ओर झुकने लगे, पर इनके संस्कार बहुत दिनों तक बने रहे। जब वे इसी प्रक्रिया मे गुजर रहे थे उसी समय कबीर का आविर्भाव हुआ था। (कबीर, भारतीय धर्म साधना में कबीर का स्थान पृ० 309)।

ऐसे ही प्रतिकूल परिस्थितियो में प्रेम के मार्ग को लेकर कबीर ने सम्पूर्ण आत्मसमर्पण की बात जन मानस के सामने रखा।

कबीर की वाणी मात्र वाह्याचार के विरोध में ही नहीं प्रस्फुटित हुई अपितु प्रेम निवेदन तथा भगवान के प्रति आत्मसमर्पण ये दोनों साधन प्रिय थे। वे ब्रह्म के रंग में आकठ डूबे हुए कहते है :

सतगुरु हो महाराज, मो पै साई रंग डारा।

सब्द की चोट लगी मेरे मन में, बेध गया तन सारा।

औषध-मूल कछु नहीं लागै, का करै वैद बेचारा।

सुर-नर मुनिजन पीर-औलिया, कोई न पावे पारा॥

साहब कबीर सर्व रंग रँगिया, सब रंग से रंग न्यारा॥ (शब्दा० 5, पृ०-9)

मध्यकाल में जहाॅ समस्त जन मानस मद, लोभ तथा धार्मिक आडम्बरो में फंसा हुआ एक दुर्द्धर्ष की स्थिति तक पहुंच गयाथा वहाॅ ईश्वर के रंग में रंग कर अपने अन्दर ही आत्म साक्षात्कार की गूॅज जो इस सत के वाणी में गूँजी, उसने जन सामान्य को गहरे स्तर तक प्रभावित किया और दलित चेतना के रूप में उभर कर सामने आया- जिसमें समस्त जन समान्य वर्ग प्रेम की रस धारा से अभिसिंचित होते हुए प्रवृत्ति मार्ग की तरफ अग्रसारित हुआ। जो समाज निठल्लेपन की भांति निवृत्तिमार्गी विचार धारा की ओर झुक चुका था कबीर रूपी संत पाकर पुनः एक नयी चेतना की शक्ति का अनुभव किया,जिसमें सार तत्व था प्रेम।

मध्ययुग के अन्यतम वैष्णव भक्त विश्वनाथ चक्रवर्ती ने कहा था, 'प्रेम ही परम पुरुषार्थ है'— ''प्रेमा: पुमर्थो महान्।'' साधारणत: पुरुषार्थी धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के प्रति आकर्षित नहीं होता। कबीर ने इसी विचार को शक्तिशाली ढंग से व्यक्त किया है:

राता माता नाम का, पीया प्रेम अधाय।

मतवाला दीदार का, माँगै मुक्ति बलाय।

(कबीर वचनावली-श्री अयोध्या सिंह उपाध्याय, सम्पादित, काशी नागरी प्रचारिणी सभा काशी पृ० 13)

अस्तु भगवान के शरण में जाने के लिए प्रेम का मार्ग ही श्रेष्ठ है, जिससे समस्त संसार में सहिष्णुता कीभावना का संचार हो सकेगा- कबीर कहते हैं :-

भाग बिना नहीं पाइये; प्रेम प्रीति की भक्त।

बिना प्रेम नहीं भक्ति कछु भक्ति मरयो सब जक्त॥

प्रेम बिना जो भक्ति है, सो निज दंभ विचार।

उदर भरन के कारने, जनम गँवायौ सार॥ (संत कबीर की साखी पृ० 41, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई सं० 1977)

इस प्रकार कबीर ने अपने समाज में व्याप्त अहंकार, धर्मआडम्बर आदि पर प्रहार करते हुए एक ऐसे मार्ग को दिशा दिया जो सबसे अलग था। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते है कि वे मुसलमान होकर भी असल में मुसलमान नही थे, हिन्दू होकर भी हिन्दू नहीं थे, वे साधु होकर भी साधु (अगृहस्थ) नहीं थे, वे वैष्णव होकर भी वैष्णव नहीं थे, योगी होकर भी योगी नहीं थे। वे कुछ भगवान की ओर से ही सबसे न्यारे बनाकर भेजे गये थे। वे भगवान की नृसिंहावतार की मानव प्रतिमूर्ति थे। नृसिह की भाँति वे नाना असंभव

समझी जाने वाली परिस्थितियों के मिलन बिन्दु पर अवतीर्ण हुए थे। (कबीर, भारतीय धर्म साधना में कबीर का स्थान पृ० 144)।

अत: कबीर ने एक ऐसे समाज को नृसिंह अवतार की भाँति संबोधित किया जिसमें जाति-पाँति, भेद-भाव, आचार-व्यवहार सब कुछ मानव मूल्यो के प्रतिकूल था। ऐसे में अपने दृढ़ निश्चयी संबोधनों से सबको अचम्भित कर दिया। पाण्डित्य के अत्यधिक बोझ से दबा जन साधारण अबूझ पहेली की गुत्थियो को सुलझा सकने मे असमर्थ था- तभी तो कबीर ने भगवत-प्रेम में निष्ठा व्यक्त करते हुए प्रेम की महत्ता को प्रतिपादित किया:

पढ़ि-पढ़ि के पत्थर भया, लिखि लिखि भया जु ईट।

कहै कबीर प्रेम की लगी न एकौ छीटं॥

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोइ।

ढाई अक्षर प्रेम का पढ़े सो पंडित होई॥

लेकिन कबीर की आवाज अनसुनी रही। वह समाज जो कुसंस्कारों में रत था, उसे यह मार्ग कैसे सुलभ और ग्राह्या हो सकता था। परन्तु कबीर एक दुर्द्धर्ष और अपराजेय योद्धा की तरह आजन्म संघर्ष करते रहे और कभी भी अभिजात्य अथवा सामंत वर्ग के सम्मुख घुटने नहीं टेके।

हिन्दु और मुसलमान दोनों के सारे कर्मकाण्डों आचार-विचारों पर उन्होंने कड़ी चोट की, जो साधारण जन को अपमानित करते थे।" कबीर की चेतना एक अखंड चेतना है, उनकी साधना, उनकी भक्ति, उनका संतत्व, उनकी डांट - फटकार, उनका अक्खड़पन उनका मूर्तिभंजकत्व, सब उनकी इस अखण्ड चेतना की नाना अभिव्यक्तियाँ, उसी के अलग-अलग तेवर हैं।"

(भक्ति आंदोलन और भक्ति काव्य पृ० 50) डा० शिवकुमार मिश्र)।

अस्तु कबीर ने जिस समाज की कल्पना की उसमें भगवान और भक्त के बीच अहैतुक आनन्द की कल्पना और व्यवहार की ही सोच सात्विक रूप में उभर कर सामने आती है। जन साधारण उनको अपने पास पाता है और यह स्वीकार किया जा सकता है कि तत्कालीन समाज को भले ही कबीर उस स्तर तक प्रभावित नहीं कर सकें हो, लेकिन जो युगीन परिस्थितियाँ थी, जो समय का दबाव था उसके उज्जवल भविष्य की कामना के निमित्त यह युग द्रष्टा जाग रहा था तथा युग की पीड़ा का साक्षात्कार करता हुआ आंसू बहा रहा था। ऊपर से फक्कड़ दिखने वाले कबीर भीतर से नितांत दु:खी तथा संतप्त थे, अपने लिए नहीं कोटि-कोटि साधारण जनों की पीड़ा तथा व्यथा को देखकर। तभी तो उनकी मर्ममयी वाणी प्रस्फुटित होती है।

सुखिया सब संसार है, खावे औ सोवे।

दुखिया दास कबीर है जागे औ रोवे॥

वस्तुत: कबीर देश के सांस्कृतिक नवजागरण के अग्रदूत थे, अपने गुरू रामानंद की भाँति (भक्ति आंदोलन और भक्तिकाव्य- डॉ० शिवकुमार मिश्र पृ० 51)। रामानन्द ने एक युग द्रष्टा की भाँति जनसाधारण के उस वर्ग में अपना शिष्य बनाया, जो अन्त्यज तथा समाज से बहिष्कृत थे- यह एक बहुत बड़ी बात थी, उस समाज में और यही कारण है कि रामानन्द का 'राम' नाम मंत्र जन साधारण में एक चेतना का रूप धारण लिया, चाहे वह सगुण के रूप में चाहे निर्गुण के रूप मे- दोनों का लक्ष्य मात्र एक था- जन साधारण में प्रेम की भावना के साथ ईश्वर के प्रति अहैतुक भक्ति प्रवृत्तिमार्गी दृष्टि से। निर्गुण पंथ पर लिखते हुए कबीर के जनवादी दृष्टि को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह कथन पुष्टि प्रदान करता है:

''इसमे कोई संदेह नहीं कि कबीर ने ठीक मौके पर जनता के उस बडे भाग को संभाला जो नाथपंथियों के प्रभाव से प्रेमभाव और भक्ति रस से शून्य और शुष्क पड़ता जा रहाथा। उनके द्वारा यह बहुत आवश्यक कार्य हुआ। इसके साथ ही मनुष्यत्व की सामान्य

भावना को आगे करके निम्न श्रेणी की जनता में उन्होंने आत्मगौरव का भाव जगाया और भक्ति के ऊंचे से ऊँचे सोपान की ओर बढ़ने के लिए बढ़ावा दिया। पथ चल निकला,जिसमे नानक, दादू, मलूक दास आदि सत हुए।'' (हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० 67)।

अस्तु संत काव्य धारा रुढ़िग्रस्त धर्म तथा उसके द्वारा अभिशप्त एक अनैतिक और अमानवीय समाज व्यवस्था के प्रति सामान्य जन के सात्विक रोष तथा उसकी दुर्दम जिजीविषा की भावात्मक अभिव्यक्ति थी। निम्नवर्गीय साधारण वर्ग का व्यथा-कथा से परिपूर्ण इस भक्ति आंदोलन पर गजानन माधव मुक्ति बोध का यह कथन कितना प्रासंगिक है:

भक्ति आंदोलन का जन साधारण पर जितना व्यापक प्रभाव हुआ उतना किसी अन्य आंदोलन का नहीं। पहली बार शुद्रों ने अपने संत पैदा किए। अपना साहित्य और अपने गीत सृजित किए। कबीर, रैदास, नाभा, सिंपी, सेना, नार्ड, आदि महापुरुषों ने ईश्वर के नाम पर जातिवाद के विरुद्ध आवाद बुलंद की। समाज के न्यस्त स्वार्थवादी वर्ग के विरुद्ध नया विचार वाद आवश्यंभावी था। वह हुआ। तकलीफ हुई, लेकिन एक बात हो गई। (नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध 88)।

अत: रामानंद के प्रयास और उदार भावना के कारण संत साहित्य को एक दिशा देने का कार्य कबीर ने जो उठाया उसकी परिणति इस रूप में हुई कि जो समाज शूद्रो को मठो तथा मंदिरों में पूजा तक नहीं करने देता था उसी जाति और वर्ग से ऐसे संत पैदा हुए जिन्होंने न केवल उन मान्यताओं को खारिज किया बल्कि देश के संस्कृति के निरर्धारण में एक नये अध्याय को जोडा। जिसमें भारतीय जन सामान्य वर्ग की साधारण से साधारण जनता की अपनी अध्यात्मिक तृष्णा को बुझा सकने में कोई रुकावट नहीं महसूस की और एक ऐसे नद की स्थापना हुई जिसके घाट पर एक साथ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी बैठकर स्नान कर सकते थे, ईश्वर का भजन-गायन कर सकते थे, नैतिकता के धरातल पर मनुष्य के वास्तविक चरित्र को जी सकते थे।

यही संत कवियों का प्रदेय था, जिसमें निम्न संतों ने अपनी वाणी से भारतीय संस्कृति के विकास में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया :-

(1) स्वामी रामानन्द (2) संत नामदेव (3) कबीर (4) रैदास (5) सेन नाई (6) धन्ना भगत (7) वीपा (8) संत सदना (9) संत कमाल (10) धनी धर्मदास (11) गुरुनानक (12) गुरुअंगद देव (13) गुरूअमरनाथ (14) गुरु रामदास (15) गुरु अर्जुन देव (16) दादू दयाल (17) मलूक दास, (18) रज्जब (19) शेख फरीद।

अस्तु उपर्युक्त संतों ने सामाजिक और धार्मिक बाह्याचारों का विरोध किया और प्रत्येक स्थान पर भ्रमण करके अपने उपदेशों को जनसाधारण की भाषा हिन्दी के माध्यम से जन सामान्य के जातीय चिन्तन को जागृत करने का प्रयास किया। इन संतों ने मानव धर्म का उपदेश देकर विश्वबंधुत्व की भावना को जाग्रत किया जिससे जनवादी दृष्टि से चेतना की लौ जगाने में वे सफल हुआ। संत काव्य में लोक जीवन की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति विषय पर विचार करते हुए डॉ० रामचन्द्र तिवारी ने लिखा है कि 'परिवार लोक जीवन की इकाई है'। पारिवारिक संबंधों की मधुरता की अभिव्यक्ति लोक साहित्य की निजी सम्पत्ति रही है। .....संत शिवनारायण के प्रमुख शिष्य रामनाथ साहब का एक सोहर दृष्टव्य है:-

त्रिवेणी घाट नहवलों, सूरुज माथ नहवलों हो।

ललना पहिरलों प्रेम चित्र सारी खोजलो पिया आपन हो।

सजले डोलिया चढ़ि बइठलों, त कहरा दुलवत हो।

ललना ले चल पियवा के देश जहाँ घर आपन हो।

खुलि गइले गगन केवड़िया, अनन्त जोति चमकल हो।

ललना लउकल झिलमिल ज्योतिया गोतिन सब हर्षल हो।

राम नाथ सोहर गावल गाई के सुनावल हो।

ललना जनमल त्रिभुवन नाथ संतन सुख पावल हो। (शब्दावली पृ०-12, पद 51) (शिवनारायणी सम्प्रदाय और उसका साहित्य पृ० 319)

यहाँ पर तिवारी जी का संकेत है कि लोक वातावरण के साथ संतों की लोकवाणी साम्प्रदायिक स्तर पर अभिव्यक्त हुई है किन्तु अगर लोक साहित्य जिसमे सामान्य जन के आचार-विचार, रीति-रिवाज समाहित होते हैं, के स्तर पर उपरोक्त वाणी निश्चय ही लोक जीवन शैली को उद्घटित करती है। यह संतों की भारतीय संस्कृति के लिए विशेष महत्वपूर्ण प्रदेय माना जा सकता है।

जनवादी मूल्य ही इस बात की माँग करते हैं कि जाति-पॉति की निस्सारता को स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया जाय, जो कबीर के विचारों में स्पष्ट परिलक्षित होती है—

सन्तन जात न पूछो निरगुनियॉ

साथ ब्राह्मन, साथ छतरी, साथे जाती बनियाँ।

साथन या छत्तीस काम हैं टेड़ी तौर पुछनियाँ।

साथे नाऊ साथे धोबी साथ सांति के बरियॉ।

(संत सुधासागर-वियोगी हरि पृ० 93)

जिस जाति-प्रथा को चुनौती देकर भगवान बुद्ध ने एक महान आंदोलन का श्रीगणेश किया। संतों ने उसे चरम सीमा पर पहुँचा दिया। जाति-पॉति का विरोध मलूकदास यह कह कर करते हैं : ''साथ मंडली वैठि के मूढ जाति बखानी''[1] तो गुरू नानक जाति के अहंकार पर प्रहार करते नजर आते है :-

---

1 मलूक-दास जी बानी, पृ० 18।

जाती दे किआ हाथे सचु परखीये।

महुरा होवे हाथे भरिए चखीये।।[1]

संत दादू एक जाति अर्थात् मानव जाति पर अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि :

जै पहुँचे ते कहि गये तिनकी एकै बात।

सवै सयाने एक मति तिन की एकैजात।

अस्तु संतों का दृढ़ विश्वास था कि समाज में जो कलह और अशान्ति फैलती है वह जातिवाद के कारण ही है। इससे समाज और देश की शक्ति कमजोर हो जाती है, जिसमें परिणामस्वरूप असत्य का प्राधान्य हो जाता है। अत: मनुष्य को जाति-पाँति के बंधन से मुक्त होकर इस सत्य को हृदयगंम करने की अनिवार्यता पर बल दिया है कि : ''साई के सब जीवरे, कीरी कुंजर दोई।''

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि जनवादी मूल्यों को जातीय स्तर पर स्थापित करने तथा नैतिकता रूपी बीज मंत्र का संदेश संतों की वाणी में हर जगह गूंजती दृष्टिगत होती है, जो भारतीय सांस्कृतिक एकता के निर्धारण में एक महत्वपूर्ण कार्य था। इस सम्बंध में सार रूप में हम डॉ० देवमणि उर्फ मीना मिश्रा के इस कथन को उद्धृत करना चाहेंगे— ''मानव मूल्य का सम्यक् प्रतिपादन जिस काव्य में होता है, वही काव्य कालातीत होने में सक्षम सिद्ध होता है। मनुष्य का बाह्य सौन्दर्य क्षणिक है, अस्थाई है। मानवता के व्यष्टिगत एवं समष्टिगत मूल्य ही किसी भी साहित्य की स्थायी सम्पत्ति हैं। संत काव्य में ज्ञान योग के साथ भाव योग का सुन्दर समाहार एवं सच्चे कर्मयोग की सहज व्याख्या है'' (संत साहित्य में मानव मूल्य,

---

1 नानकवाणी, पृ० 183।

पृ० 26)।

संतों के जीवन वृत्त पर प्रकाश डाला जाए तो यह स्पष्ट होता है कि अधिकांश संतों का जन्म निम्न जाति के परिवारों में हुआ था— अस्तु संत साहित्य एक ऐसा साहित्य है जिसमें जन सामान्य वर्ग में एकजुटता का भाव उभरता है, जिसका परिणाम यह होता है कि संतों ने जन साधारण वर्ग को भी समाज मे 'मनुष्यता' के स्तर पर प्रतिष्ठित करने में अपनी भूमिका का निर्वहन किया।

जन सामान्य के लिए कठिन दार्शनिक विवेचना को समझना दूरुह था। अत: संतों ने साधना का सहज मार्ग अपनाया और भक्ति के सरलतम रुप नाम स्मरण पर जोर दिया। सद्चरित्रता, ईश्वरोन्मुख गुणों का विकास तथा अवगुणों का परित्याग ही उनकी साधना के चक्र थे। कबीर जब कहते हैं कि कथणीं वदणीं सब जंजाल। भाव भगति अरू राम निराल॥[1] तो वह सीधे-सीधे सामान्य जन को जोड़ते हुए कर्म में विश्वास की आधारशिला को स्थापित करते है और अनुपम राम की भक्ति का मार्ग प्रशस्त करते हैं। सद्गुणों केमहत्व को स्थापित करते हुए संतों ने जन चेतना की अलखध्वनि 'न सत्यात् विधते परम्' के आधार पर समस्त समुदाय मे गूंजित की- जिसके निनाद में, ''वेद पुरान पुस्तक पढ़े। प्रेम बिना क्या होय॥[2] प्रेम की वास्तविकता को समस्त संसार के सामने फैलाने में सफलता प्राप्त हुई। तभी तो सच्चे प्रेम की पराकाष्ठा का भाव दादू की पंक्तियों में गूंज उठी—

प्रीति जो मेरे पीव की पैठी पिंजर माँहि।
रोम-रोम पिव पिव करे, दादू दूसरे नाहि॥[3]

---

1 कबीर ग्रथावली पृ० 156।

2 सतवाणी सग्रह भाग 1 पृ० 79।

3 संत वाणी सग्रह, भाग एक पृ० 79।

शील, कष्ट और शोक की दशा में बहुत कुछ शांति प्राप्त करने का मुख्य साधन है। नीचे से ऊँचा उठने के लिए अपने अन्दर शीलता रखना अति आवश्यक है। संतों ने इस गुण का अपनी वाणियों में विशेष रूप से उल्लेख किया। कबीर कहते हैं :

सीलवंत सबसे बड़ा, सर्व रतन की खानि।

तीन लोक की संपदा, रही साल में आनि।।[1]

जातक कथा में वर्णन आया है कि: ''शीलं की रेव कल्याण, सील लोके अनुत्तर।''[2] अर्थात् शील का पालन करना सदा कल्याणकारी होता है। वह लोक मे सर्वोत्तम है। तभी तो कबीर: सील सिन्दुर भराई कै, यों प्रिय का सुख लेइ।[3] राम के मिलन हेतु शील रुपी सिन्दूर की अनिवार्यता पर बल देते हैं। नानक ने स्पष्ट रूप से कहा कि मनुष्य शील, संयम और शुद्धता को त्याग कर खाद्य-अखाद्य में लीन हो गये हैं, जो सर्वथा गलत है:

सीलु संजमु सचु मनी खाणा खाजु अजा अहाजु।[4]

अस्तु संतों ने जन साधारण को इस बात का साहस प्रदान किया है कि शील का पालन ही उन्हें ऊँचे स्तर पर ला सकता है। दया[5], क्षमा[6], दीनता[7], संतोष[8] आदि पर प्रकाश

---

1 सतवाणी संग्रह भाग 1 पृ० 47।

2 जातक पृ० 19 व 484।

3 संत वाणी सग्रह भाग 9 पृ० 47।

4 नानक वाणी पृ० 737।

5 दया दिल मे राखिये, तू क्यो निरदइ होय।

साई के सब जीव है, कीडी कुजर सोय।। सतवाणी सग्रह भाग 1 पृ० 48।

6 जहाँ क्रोध तह काल है, जहाँ छिमा तह आप। (वही पृ० 47)

7 बुरा जो देखन मै चला, बुरा न मिलिया कोय।

डालते हुए संत भक्त कवियों ने जनसाधारण में मनुष्यता के भाव का संचार किया। और साथ ही साथ धैर्य, श्रम का महत्व माँगन मरन समान है।'', पर बल देते हुए-कृषि कर्म में विशेष बल दिया।

अस्तु देखा जाए तो संतों ने मानव कल्याण के वे सारे मंत्र जो एक समाज को प्रगतिशील बनाता है, को व्यवहार के स्तर पर जन सामान्य में रखा जो निश्चित ही एक जातीय चिन्तन के लिए, जनवादी दृष्टि से एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है. शूद्रोद्धार की भावना, जो आलवार संतों के वहाँ से चली थी, रामानन्द के समतावादी दृष्टि ने एक ऐसी जनवादी मूल्यों की स्थापना की, जिसमें यह पंक्ति सूत्र वाक्य बनकर उभरी कि : जाति पाँति पूछे नही कोई। हरि को भझै सो हरि का होई॥ मानव के प्रति समदर्शिता का भाव तत्कालीन समाज की मांग थी, जिसको एक बृहदत्तर स्तर पर फैलाने का कार्य संत कवियो ने किया।

प्रत्येक कवि अथवा युग का साहित्य तत्कालीन मानव भावों, विचारों और आकांक्षाओं का ही प्रकटीकरण है। किसी काल के साहित्य को स्थिर करने वाली तीन बातें होती है:- जाति, स्थिति, और काल।[1] डॉ० शान्तिकुमार नानूराम व्यास के अनुसार-'' श्रेष्ठ साहित्य स्वभावत: युग जीवन से ग्रंथित होता है, वह अपने समय के सामाजिक आदर्श को प्रकट या प्रतिफलित करता है।''[2]

अत: उपर्युक्त के आधार पर हम कह सकते हैं कि नि:संदेह संत कवियों ने अपने समाज, काल तथा स्थिति को पहचाना और जन सामान्य के अन्दर चेतना को जागृत करने

जो दिल खोजा अपना, मुझ सा बुरा न कोय॥ (वही पृ० 48)

8 साध सतोषी सर्वदा, निरमल, जाके वैन॥ (वही पृ० 47)

1 डा० राम बाबू शर्मा- 15वी सदी से 17ी सदी तक का हिन्दी साहित्य के काव्य रुपो का अध्ययन (थीसिम) पृ० 2।

2 रामायण कालीन समाज पृ० 4।

वाले, समतावादी मूल्यों को स्थापित करने वाले, मानव मूल्य को निर्धारित करने वाले लोक जागरण संबंधी विचारों को समाज मे रखा।

अस्तु मूल्यांकन रूप में डॉ० शिव कुमार मिश्र की इस पंक्ति को उद्धृत करना चाहेंगे।

''कबीर और निर्गुण धारा की सत परम्परा की सबसे बड़ी देन यही है कि उसने मनुष्य और मनुष्य के बीच फर्क करने वाली बड़ी से बड़ी शक्ति का विरोध किया। उसने एक ऐसी मानव संस्कृति की परिकल्पना हमारे सामने रखी जो आज भी भले ही हमारे लिए काव्य बनी हुई हो, किन्तु जिसकी ओर बढ़ता हुआ मनुष्य का एक-एक चरण ऐसी हजार यात्राओं से बढ़कर है, जो कुछ मनुष्यों के द्वारा कोटि-कोटि मनुष्य को कुचलते हुए अपनी शाक्ति तथा वैभव का विस्तार करने के लिए की जाती रही है। एक मानव धर्म, एक मानव समाज तथा एक मानव संस्कृति का सपना ही इन क्रान्तिद्रष्टा संतो की विरासत है, जो आगामी पीढ़ियों के लिए बड़ी मसक्कत के बाद उन्हें सुलभ हुई है।''[1]

अतः उन सभी भावधाराओं का ग्रहण जन साधारण ने किया जो उन्हें अपने समाज के लिए, मनुष्य समाज के लिए ग्राह्य था तथा संतों की वाणी जन सामान्य वर्ग में जन चेतना के रूप में व्यवहरित तथा आचरित हुई।

-------oo------

1 भक्ति आदोलन और भक्ति काव्य पृ० 57।

(ख) प्रेमाख्यान धारा

प्रेमाख्यान काव्य धारा का आशय उन साधनों से है जिन्हें सूफी संत कहा जाता है। सूफ़ी शब्द 'सूफ' (ऊन के अर्थ में) से बना है।अलबरुनी का कथन है कि उच्चारण विकृति के कारण सूफी शब्द की व्युत्पत्ति 'सूफ' से की जाने लगी- वस्तुत: इसका अर्थ वह युवक है जो 'साफ़ी' (पवित्र) है। यह 'साफी' ही उसके अनुसार सूफी हो गया है। अर्थात् 'विचारकों का दल'।[1]

आधुनिक काल के विद्वान ब्राउन महोदय का कहना है कि फ़ारसी में रहस्यवादी साधकों को 'पश्मीना - पोश' (ऊन धारण करने वाला) कहा गया है।[2]

अत: सूफ़ी मत का इतिहास 623 ई० से लगभग प्रारम्भ होता है। प्रारम्भ में इस्लाम एक प्रवृत्त मूलक धर्म था। राविया (बसरा की रहने वाली) के साहित्य में सर्वप्रथम प्रेम - दर्शन का उदात्त और प्रखर रुप सामने आता है। वह कहती है — ''खूथ के प्रेम ने मुझे इतना आभिभूत कर दिया है कि मेरे हृदय में अन्य किसी के प्रति न तो प्रेम शेष रहा, न घृणा शेष रही।[3]

इस प्रकार 'प्रेम के पीर' के रूप में भारत में सूफी मत का प्रवेश हुज्वेरी के आगमन के साथ हुआ। वह गजनी के रहने वाले थे। लेकिन सूफी मत का क्रमबद्ध इतिहास 1190 ई० में ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती के आगमन से मिलता है जो आगे चलकर चिश्तिया सम्प्रदाय के रूप में प्रसिद्ध होता है और सूफ़ी मत को एक नई दिशा देता है।

---

1 अलबरुनी इण्डिया अनुवाद सचाऊ पृ० 33 (मध्ययुगीन प्रेमाख्यान- डॉ० श्याम मनोहर पाण्डेय पृ० 4)।

2 वही पृ० 4।

3 वही पृ० 5।

अस्तु सूफ़ी मत की सम्पूर्ण साधना प्रेम पर आधारित सिद्धान्त को लेकर भारतीय जन मानस में व्याप्त लौकिक कथाओं के सहारे लोक जागरण का कार्य करती है तथा जनवादी साहित्य के रूप में कुछ हद तक अपनी पहचान बनाती है,जो विवेच्य विषय है।

कबीर, जायसी, सूर और तुलसी का युग लोक जागरण का युग है। यह जागरण पश्चिमी एशिया के कई देशों के लोकजागरण से जुड़ा हुआ है। धर्म संबंधी वाह्याचार के विरोध में सूफी मत का प्रसार हुआ। इस मत ने भारतीय कवियों को प्रभावित किया था। इनमें सबसे लोकप्रिय जायसी थे।[1]

इस देश में मुस्लिम शासन के सूत्रपात होने के पहले से ही सूफी साधक आने लगे थे। अनेक विद्वान मुस्लिम सूफी साधकों को एकेश्वरवादी समझते हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी इस सम्बंध में लिखते हैं कि 19 वीं सदी में कई सुधारक आन्दोलन हुए हैं,जिनमें उपनिषदों के अद्वैतवाद को मुसलमानों के एकेश्वरवाद से अभिन्न मान लिया गया है। परन्तु सुफी लोग ठीक एकेश्ववादी नहीं हैं। उनका विश्वास बहुत कुछ इस देश के विशिष्टाद्वैतवादी दार्शनिकों की भाँति है। विशिष्टाद्वैतवादी दार्शनिकों का व्यावहारिक धर्म भी भक्ति ही है और इन साधकों का व्यावहारिक धर्म भी भक्ति ही है। निस्सन्देह इन साधकों की मधुर भक्तिभावना ने हमारे देश के संतों को भी प्रभावित किया है और इन्होने भी इस देश से बहुत कुछ ग्रहण किया है।[2]

निर्गुण भक्तिधारा भी प्रेमाख्यान काव्य परम्परा-जिसमें प्रेमगाथाओं के रूप मे उस प्रेम तत्व का वर्णन किया गया है जो ईश्वर को मिलाने वाला है तथा जिसका आभास लौकिक

---

1 लोक जागरण और हिन्दी साहित्य आचार्य रामचन्द्र शुक्ल सम्पादक - डॉ० राम विलास शर्मा।

2 सूफी साधको की मधुर साधना।

प्रेम के रूप में मिलता है[1] में कुतबन, मंझन, जायसी, उसमान, शेखनबी, कासिम शाह, नूर मुहम्मद आदि सूफ़ी साधकों ने लोक प्रचलित कथाओं के माध्यम से ईश्वर का तादात्म्य स्थापित करते हुए प्रेम का एक ऐसा मार्ग चलाया, जिसमें ग्राम्य सांस्कृतिक बोध के साथ-साथ जन साधारण वर्ग को ईश्वर के साथ रागात्मक सम्बंध स्थापित करने में किसी प्रकार का व्यवधान महसूस नहीं हुआ।

सूफी साधकों में सबसे सशक्त रूप में जायसी की पहचान होती हैं। जायसी को सूर तथा तुलसी के समय प्रतिष्ठा देने का सारा श्रेय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को जाता है। भारतीय सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन की धारा में अनेक विसंगतियों के बावजूद लम्बे साहचर्य के बाद निश्चित रूप से जब भी कोई जाति या सम्प्रदाय के लोग एक साथ जीवन यापन करेंगे तो स्वाभाविक है कि एक दूसरे को समझने की भावना का विकास होगा— ऐसा ही कुछ मध्यकालीन समाज में दो विभिन्न आचरण व्यवहार करने वाले समुदायों के बीच दृष्टिगत हुआ, जिसको और नजदीक लाने में जायसी जैसे सूफ़ी साधकों की प्रेममयी वाणी काफी हद तक कारगर रही होगी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने यह सही कहा है कि कबीर की कठोर उक्तियाँ हिन्दू-मुसलमानों को एक दूसरे के निकट लाने का जो कार्य आंकाक्षित स्तर पर नहीं कर सकी उसे जायसी जैसे सहृदय मुसलमानों ने सफलता के साथ पूरा किया। आचार्य शुक्ल जी कहते हैं:

सौ वर्ष पहले कबीरदास हिन्दू और मुसलमान दोनों के कट्टरपन को फटकार चुके थे। पंडितों और मुल्लाओं की तो नहीं कह सकते पर साधारण जनता राम और रहीम की एकता मान चुकी थी। साधुओ और फरीकों को दोनों दीन के लोग आदर और सम्मान की दृष्टि से देखते थे। साधु या फकीर भी सर्व प्रिय वे ही हो सकते थे,

---

1 हिन्दी साहित्य का इतिहास-आचार्य राम चन्द्र शुक्ल पृ० 52

जो भेदभाव से परे दिखाई पड़ते थे। बहुत दिनों तक एक साथ रहते-रहते हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के सामने अपना हृदय खोलने लग गए थे। जिससे मनुष्यता के सामान्य भावों के प्रवाह में मग्न होने और मग्न करने का समय आ गया था। जनता की प्रवृत्ति भेद से अभेद की ओर हो चुकी थी। मुसलमान हिन्दुओं की राम कहानी सुनने को तैयार हो गए थे और हिन्दू मुसलमानों का दास्तान हमजा। ईश्वर तक पहुँचाने वाला मार्ग ढूंढ़ने की सलाह भी दोनों कभी-कभी साथ बैठकर करने लगे थे। इधर भक्तिमार्ग के आचार्य और महात्मा भगवत्प्रेम को सर्वोपरि ठहरा चुके थे और उधर सूफ़ी महात्मा मुसलमानो को 'ईश्क-हकीकी' का सबक पढ़ाते आ रहे थे। (जायसी ग्रंथावली, भूमिका-1)

उपरोक्त कथन के आलोक को ग्रहण करें तो वे सारी बातें जो इस अध्याय का विवेच्य विषय है स्पष्ट रूप में उभरकर सामने आ जाता है। मसलन .. .. ''साधारण जनता राम और रहीम को एकता मान चुकी थी।'' जन साधारण स्तर पर इन कवियों का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। राम और रहीम की एकता महज ईश्वरीय स्तर पर दो धर्म के मानने वाले लोगों का मिलन ही नहीं था अपितु दो संस्कृतियों के मिलन का परिणाम था, जो वैचारिक तथा धार्मिक कट्टरपन की खाई को कुछ हद तक पाटने में कारगर साबित हुआ। जायसी जैसे सूफी साधकों को भारतीय सांस्कृतिक परम्परा का दायित्व बोध तथा लोक स्तर पर कथाओं का चयन निश्चय ही उनके भारतीय हृदय की ओर इंगित करता है।

तंत्र-मन्त्र तथा योगाचार जैसे कठिन साधनों के मार्ग पर चलता जन साधारण गुमराह तथा भटका हुआ महसूस कर रहा था, ऐसे में भक्ति के जिस स्वरूप को जायसी ने समाज मे परोसा उस पर आचार्य शुक्ल लिखते हैं:- ''ऐसे ही समय में कुछ भावुक मुसलमान प्रेम के पीर की कहानियाँ लेकर साहित्य के क्षेत्र में उतरे।'' ये कहानियाँ हिन्दुओं के घर-घर की थीं। इनकी मधुरता और कोमलता का अनुभव करके इन कवियों ने यह दिखला दिया कि एक ही गुप्त तार मनुष्य मात्र के हृदयों से होता हुआ गया है जिसे छूते ही मनुष्य सारे बाहरी रूप रंग के भेदों की ओर से ध्यान हटा एकत्व का अनुभव करने लगता है। सच्ची सेक्यूलर

मानसिकता यही कार्य करने में चरितार्थ होती है, और यहकार्य अपने ढंग से इन सूफी साधकों ने अपने समय में किया।[1]

मनुष्य को मनुष्य के स्तर पर जोड़ने का कार्य कबीर ने भी किया और जायसी ने भी। लेकिन कबीर ने उस कार्य को संवेदनात्मक स्तर पर किया जबकि जायसी ने उसमें रागात्मकवृत्ति को भी जोड दिया। 'राग' प्रेम का पर्याय है और प्रेम मनुष्यता की जीवन शैली-जिसमें भावुक समाज अपने अन्तर्द्वन्दों में जीता हुआ भी अपने विवेक और ज्ञान के संबल को पकड़े रहता है और सब कुछ समर्पित कर देता है उस परम सत्ता में जो सव जगह परिव्याप्त है, चेतन है तथा समदर्शी है।

उसी परम सत्ता की समदर्शी भावनाओं की भॉति जायसी ने भी अपने लोक बोध को रूपायित किया।

जायसी अवध में ग्राम-समाज से जुड़े हुए कवि हैं.... ..मध्यकाल का सामंती समाज उन इलाकों में सर्वाधिक सक्रिय रहा है, जहाँ जमीन के टुकड़े अपेक्षाकृत उर्वर और अवध ऐसा ही उपजाऊ क्षेत्र है।[2] यह विचार जायसी के काव्य को ग्राम-बोध से भी जोडता प्रतीत होता है जहाँ सांमती समाज के अभिजात्य वर्गको तोड़ते हुए जायसी पात्रों-स्थितियों को लोकोन्मुख बनाते हैं। इसका एक प्रमाण है नागमती का वियोग-वर्णन। ''यह प्रसंग ऋतुवर्णन की परम्परा का निर्वाह मात्र नहीं है, यहाँ कवि राजमहिषी को सामान्य नारी की स्थिति से गुजारता है।[3] नागमती का यह कथन: पुष्य नखत सिर ऊपर आवा। हौं विनु नाह मदिर को

---

1 भक्तिआदोलन और भक्तिकाव्य - डॉ० शिवकुमार मिश्र पृ० 70।

2 भक्तिकाव्य का समाज शास्त्र - डॉ० प्रेम शकर पृ० 72।

3 वही पृ० 73।

छावा ?[1] तो निःसंदेह नागमती का वियोग एक राजमहिषी का वियोग न रह कर जन सामान्य नारी का वियोग बन जाता है—जिसमें प्रियतम के बाहर चले जाने पर उसे पुष्प नक्षत्र में यह बराबर चिन्ता बनी रहतीहै कि उसके भवन को कौन छाएगा। साधारण नारी की भाँति वह भी विलाप करती हुई अपने प्रियतम की याद में तड़प रही है। सेवंदनायें चाहे राजा हो या रंक दोनों में बराबर स्तर पर होती हैं, हाँ अन्तर उसके जीने के स्तर पर होता है। यहाँ कवि लोक के साथ सामंजस्य स्थापित करता हुआ प्रतीत होता है, जो उसके जनवादी चेतना को उद्घटित करता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जायसी पर विचार करते हुए लिखते हैं कि पद्मावती से कहने के लिए नागमती ने जो संदेश कहा है वह अत्यन्त मर्मस्पर्शी है। उसमें मान, गर्व आदि से रहित, सुख-भोग की लालसा से अलग, अत्यन्त नम्र शीतल और विशुद्ध प्रेम की झलक पाई जाती है—

पद्मावती सौ कहेहु, विहंगम। कंत लोभाइ रही करि संगम।

तोहि चैन सुख मिलै सरीरा। मो कहँ हिये दुंद दुख पुरा।।

हमहुँ वियाही संग ओही पीऊ। आपुहि पाई, जानु पर - जीऊ।

मोहिं भोग सौं काजन, बारी। सौंह दिस्टि कै चाहनहारी।।[2]

सूफ़ी साधकों की विशुद्ध प्रेम की अभिव्यंजना ही समाज के लिए, दो संस्कृतियों के लिए, आपसी वैर-भाव मिटाने का माध्यम बन कर साकार हुई। जिसमे लोक-विश्रुत कथाओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा।

---

1 नागमती वियोग खण्ड-जायसी ग्रथावली)

2 मलिक मुहम्मद जायसी — आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।

भारत में लोक कहानियों की 'साहित्यिक' अभिव्यक्ति की एक दीर्घ परम्परा विद्यमान मिलती है। पुराणों के मूल रूप के सम्बंध में प्रकाश डालते हुए पार्जीटर महोदय लिखते हैं कि :— ıt ıs hıghly probable that they (ı e. puranas) consısted at fırst maınly of ancıent storıes, gencologıes, ballads etc, whıch formed the popular sıde of ancıent lıterature, and were quıte probably ın Prakrıt orgınally. In fact ıt seems to me that they were largely ın an old lıterary Prakrıt used by the hıgher classes, but that, as the spoken languages dıverged ın tıme more and more Sanskrıt through polıtıcal vıoıssıtudes, that lıterary Prakrıt become unınt ellıgıble, whıle Sanskrıt remaıned the only polıshed language of Brahmanıc Hınduısm Hence ıt was natural that thıs lıterature should be Sanskrıtızed, ıf ıt was to be preserved "[1]

उपरोक्त कथन के आधार पर कहा जा सकता है कि भारतीय जनमानस में लोक परम्परा से चली आ रही कथाओं को एक पीढ़ी से दूसरे पीढ़ी तक पहुँचाने की सुदृढ़ परम्परा विद्यमान रही है।

डॉ० शिवकुमार मिश्र ने लिखा है कि 'नागमती पदमावती का राजा के साथ सती होना, रत्नसेन के प्रति उनके प्रेम की अनन्यता, ग्राईस्थिक जीवन में पति के अभाव के फलस्वरूप आ जाने वाली रिक्तता तथा विषाद एवं पत्नी के अनन्य प्रेम की कवि द्वारा प्रशास्ति, ये सारी बांते जो दाम्पत्य प्रेम के महत्व तथा गरिमा को उभारती हैं, जायसी के अपने समय के संदर्भो में, और मात्र परकीय प्रेम को गौरवान्वित करने के तत्कालीन माहौल

---

1 Dynastıes of the Kalı Age Introductıon Pag xvıı, foot not 2 by F E Pargıter Oxford 1913। यह उद्धरण आर०सी० मजूमदार के ग्रंथ द क्लासीकल एज' मे पृ० 296 से ग्रहण किया गया है।)

में, महत्वपूर्ण कही जाएगी।[1] इस दृष्टि से नागमती के वियोग का अंश विशेष रूप से महत्वपूर्ण है जिसके अन्तर्गत आचार्य शुक्ल ने भारतीय दांपत्य जीवन की गरिमा तथा एक हिन्दू गृहिणी के अंतर्मन के सात्विक विरह ताप का अनुभव किया है और उसे भरपूर सराहा है।

जायसी एक ऐसे समाज में अपनी रचना को कर रहे हैं जहाँ दाम्पत्य बधन किसी न किसी रूप में ध्वस्त होता जा रहा था— अतः यह आवश्यक था कि पति तथा पत्नी के बीच एक ऐसे उदा० को रखा जाए जिससे जन साधारण वर्ग एक दूसरे के प्रति दाम्पत्य स्तर पर एकनिष्ठता बनाए रखे। नागमती के वियोग वर्णन में ऐसे न जाने कितने स्थल हैं, जो दांपत्य प्रेम को उसकी समूची गरिमा तथा मर्यादा के रूप में स्थापित करता है। जायसी ने नागमती के पातिव्रत धर्म को बड़ी कुशलता के साथ वर्णित किया है— जिसमें हिन्दू - गृहिणी का सम्पूर्ण चरित्र उभर कर सामने आता है—

गिरि समुद्र ससि मेघ रवि, सहि न सकहिं वह आगि।

मुहमद सती सराहिए, जरै जो अस पिउ लागि।।

" ईश्वर के प्रति मानव का प्रेम, वह गुण है जो केवल उन पवित्र व्यक्तियों में श्रद्धा और गरिमा के रूप में प्रकट होता है जिनकी ईश्वर में आस्था है, इसलिए कि वह अपने प्रिय को संतुष्ट कर सकें और उसके दर्शन के लिए विकल हो उठें। उसके अतिरिक्त और किसी चीज में उनके मन न रमे।"[2] यही प्रेम दृष्टि जायसी के काव्य में ताजगी ला देती है। उनके काव्य में लोग जीवन के हर्ष-उल्लास, अवसाद तथा विषाद के चित्र न केवल अत्यन्त

---

1 भक्ति आन्दोलन और भक्ति काव्य- मलिक मुहम्मद जायसी पृ० 72।

2 कश्कुल महजूब - निकलसन पृष्ठ 306-307।

प्रभावशाली और मर्मस्पर्शी हैं बल्कि वे सम्वेदनशील ह्रदय का अद्भुत साक्ष्य भी प्रस्तुत करते हैं। नागमती का कथन है :-

तपै लागि अब जेठ असाढ़ी। मोही पिउ बिनु छाजनि भइ गाढ़ी।

तन सिनुर भा, झूरौं खरी। भइ बरखा दुख आगर जरी।।

बंध नाहिं औ कंध न कोई। बात न आव कहौं केहि तेई।

सांठि नाहि, जग बात को पूछा। बिनु जिउ फिरैं, मूंज तनु छूंछा।।

भई देहुली टेक बिहुनी। थांम नाहि उठ सकै न थूनी।

बरसै मेह चुवहिं नैनाहा। छपर-छपर होई रहि विनु नाहा।।

कोरौ कहाँ ठाठ नव साजा। तुम विनु अंत न छाजनि छाजा।

ग्रामीण जीवन की दरिद्रता और दु:ख केबीच से उभर कर आती हुई मर्मस्पर्शी संवेदना की पहचान निश्चित रूप से जायसी के प्रगतिशील विचार धारा की द्योतक हैं, जिनमें जन साधारण के हावों और भावों को रेखांकित किया गया है। यह सामान्य जन की व्यथा-कथा मनुष्यता के स्तर पर जानी तथा पहचानी जाती है जो जायसी के युग बोध को उद्घाटित करता है।

भाषा के स्तर पर भी जायसी ऐसे भाषा का चुनाव करते हैं जो जन सामान्य की भाषा थी। अवध प्रदेश के कवि के रूप में उनकी पहचान हिन्दु और मुसलमान ह्रदय को आमने-सामने लाने के रूप में आज भी विद्यमान है। जायसी पर प्रकाश डालते हुए डॉ० शिवकुमार मिश्र लिखते हैं, वे मूलत: एक ग्रामीण कवि हैं और अपनी ग्रामीण दृष्टि से ही उन्होने रत्नसेन, नागमती,पद्मावती, अलाउद्दीन तथा उनके साथ जुडे सारे आख्यान को देखा है। उनकी सारी कल्पना, उनका सारा निरीक्षण, वह जीवन का हो या प्रकृति का, मनुष्य से

सम्बंधित हो या मानवेतर हो, उनकी निपट ग्रामीण दृष्टि का ही साक्ष्य देता है। उनकी भाषा ही नहीं उनके उपमान, कथा कहने की उनकी शैली, पात्रों के मनोवृत्तियों के जानने पहचानने का उनका तरीका, सब कुछ, उनके ठेठ ग्रामीण अंदाज को ही सूचित करता है।[1]

अतः जायसी ने अवधी भाषा में अपनी लोक जीवन शैली की खरी पहचान करने की शक्ति को समाहित किए हुए जातीय चिन्तन तथा जन साधारण की चेतना को प्रेम के माध्यम से गति प्रदान करने की कोशिश करते हैं। यह सूफी काव्य धारा की अनुपम उपलब्धि मानी जा सकती है। जायसी का 'पद्मावत' सूफ़ी काव्य धारा का प्रतिनिधि काव्य है।

अस्तु जायसी को ही केन्द्र में रखकर प्रेमाख्यान काव्य धारा का मूल्यांकन विषयानुरुप करने का प्रयास किया गया है। वस्तुतः सूफी काव्य धारा जिस मुख्य बिन्दु को लेकर चलता है, उसमें जन सामान्य के अन्दर व्याप्त कटुता को प्रेम वेदना के माध्यम से शीतलता प्रदान करने का प्रयास करता है— इससे अधिक इन संतों से अपेक्षा भी नहीं की जानी चाहिए जितना प्रदेय अपेक्षित था, उससे कहीं अधिक इन सूफी साधकों ने अपने लौकिक कथाओं के माध्यम से समाज को कुण्ठा मुक्त करने का प्रयास किया है तथा मानव कल्याण की भावना के केन्द्र में भी निवास करने वाली शक्ति 'प्रेम' का संचार करते हैं, जो उनके लिए अभिष्ट था और साथ ही तत्कालीन समाज के लिए भी। जनवादी चेतना के मूल्य इन्हीं लौकिक प्रेम संबंधी विचारों के ईर्द-गिर्द समन्वयवादी तथा समतावादी दृष्टि को लिए-दिए स्पष्ट रूप में परिलक्षित होती है; जिसके नींव पर सगुण भक्ति धारा की इमारत खड़ी होती हुई दिखाई देने लगती है। यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि व्यवहारिक स्तर पर एकेश्वरवाद तथा बहुदेववाद की परिकल्पना मध्यकालीन भक्तिधारा के कवियों, संतों के

---

1 भक्ति - आदोलन और भक्तिकाव्य पृ० 78।

बीच भले ही विवाद का विषय हो लेकिन सैद्धान्तिक स्तर पर- ''अगुन सगुन दुइ सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा'' की उक्ति ही सर्वव्यापी रही और आज भी सर्वमान्य है। जिसमें जन साधारण को तृप्त करने की शक्ति और जन चेतना को जागृत करने की ऊर्जा प्रर्याप्त रूप में विद्यमान थी।

------००------

चतुर्थ अध्याय

(4) जनवादी दृष्टि से सगुण भक्ति धारा का विश्लेषण

(क) राम भक्ति धारा

(ख) कृष्ण भक्ति धारा

चतुर्थ अध्याय

जनवादी दृष्टि से सगुण काव्य का विश्लेषण

पांचरात्र या भागवत मत के अनुसार ब्रह्म अद्वैत, अनादि, अनन्त, निर्विकार, निरवद्य, अन्तर्यामी, सर्वव्यापक, असीम तथा आनन्द स्वरूप है। वह प्राकृत गुण-सत्व-रज और तम से हीन है, आकार देश और काल से रहित, पूर्ण नित्य और व्यापक है। षड्गुणयुक्त होने के कारण वही परब्रह्म 'भगवान' कहा जाता है। सब द्वन्द्वो से विनिर्मुक्त, सब उपाधियों से विवर्जित, सब कारणों का कारण षड्गुण रुप परब्रह्म निर्गुण और सगुण दोनों है। अप्राकृत गुणों से हीन होने के कारण वह निर्गुण है (इसकी व्याख्या निर्गुण काव्यधारा के अन्तर्गत की जा चुकी है) तथा षड्गुण युक्त होने के कारण सगुण है। छः गुण हैं—ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल,वीर्य तथा तेज। **'ज्ञान'** अजड़, स्वप्रकाश नित्य और सर्वस्व का अवगाहन करने वाला गुण है। **'शक्ति'** जगत का उपादन कारण है। **'ऐश्वर्य'** जगत् के कर्तव्य में स्वतंत्रता के गुण का नाम है। जगत के निर्माण में श्रम के अभाव को ही 'बल' कहते हैं। जगत् का उपादन कारण होने पर भी विकार रहित होने का गुण ही 'वीर्य' है। जगत् की सृष्टि में किसी सहकारी की अनावश्यकता ही 'तेज' है।[1]

जगत् के कल्याण के लिए भगवान अपने आप ही व्यूह, विभव, अर्चावतार तथा अन्तर्यामी-चार रुपों की सृष्टि करते हैं। इस रुप में वे साधन नहीं, सिद्धि के प्रभाता बनते हैं। व्यूह चार है— वासुदेव, सकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। षड्गुण युक्त भगवान ही समस्त भूतवासी होने के कारण 'वासुदेव' कहलाते हैं। परन्तु शेष तीन व्यूहों में दो-दो गुणों की विद्यमानता होती है। विभव का अर्थ है अवतार, जो मुख्य और गौण, दो प्रकार के होते हैं।

---

1 हिन्दी साहित्य कोश भाग 1 (पारिभाषिक शब्दावली) पृ० 716।

'अर्चावतार' भगवान की प्रस्तरीय मूर्तियां हैं, जो अवतार के रूप में पूजा के उपयोग में आती हैं। सब प्राणियों के हृदय में निवास करने वाले भगवान 'अन्तर्यामी' कहे जाते हैं।[1]

अत: किसी भी एक स्थूल आकार व रूप से रहित वह परमशक्ति कण-कण मे व्याप्त होते हुए भी सर्वोपरि है। इसीलिए उसे ''ॐ पूर्णमद: पूर्णमिदम्[2]'' या ''ईशावास्यमिदं सर्व[3]'' आदि शब्दों में प्रकट किया गया है।

वैदिक काल के आर्य, इन्द्रादि देवताओं एवं प्रजापति हिरण्यगर्भ की उपासना करते थे. जो कि स्पष्ट ही सगुण उपासना के अन्तर्गत आती है। ब्रह्माण्ड के अधिपति प्रजापति हिरण्यगर्भ का एक नाम 'अक्षर आत्मा' भी है। वे ऐश्वर्य से सम्पन्न अतएव सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापी हैं। 'हिरण्यगर्भ: समवर्त्तताग्रे भूतस्य जात: पतिरेक आसीत्।' इत्यादि ऋचा में उन्हीं की स्तुति हुई है।[4]

कालांतर में रामानुजाचार्य ने शंकराचार्य द्वारा पांचरात्र मत को खण्डित करके अवैदिक घोषित किए जाने के विरोध मे बादरायण के ब्रह्मसूत्रों की व्याख्या 'श्रीभाष्य' में करके उसे वेद-विहित सिद्ध करते हुए उसे प्रामाणिक माना। अत: इसी मत के आधार पर मध्ययुग में वैष्णव भक्तिमार्ग का प्रचार और भगवान् के विभवावतारों की लीलाओ का वर्णन-कीर्तन किया गया है।[5]

---

1 वही पृ० 716।

2 इशोवास्योपनिषद् शान्ति पाठ।

3 वही, मत्र 1।

4 पातजल गोयसूत्र-डॉ० भगीरथ मिश्र, 'दो शब्द'।

5 हिन्दी साहित्य कोश, भाग-1, पृ० 716।

अस्तु पूर्णरुपेण आत्मसमर्पण को वैष्णव आचार्यो ने अपनी लोक शास्त्रीय विवेचना के अन्तर्गत 'प्रपति' भाव की संज्ञा से अभिहित किया। ''ईश्वर के सम्मुख सर्वभावेन आत्मसमर्पण कर देना ही प्रपत्ति है। इस प्रपत्ति अथवा शरणागति के छ: भेद किए गए हैं। इस प्रपत्ति को कायिकी, वाचिकी एवं मानसी के रूप में विभक्त कर पुन: इन तीनों के सात्विकी, राजसी, तामसी के आधार पर तीन-तीन भेद किए गए हैं''[1] :-

अनुकूलस्य संकल्पः प्रातिकूलस्यवर्जनम्। रक्षयिष्यतीतिविश्वासो।

गोप्तृत्ववरणं तथा॥ आत्म निक्षेपकार्पण्ये षड्विद्याशरणागतिः।।[2]

तथा

प्रमाणांकनमुठपेनन्यासंलिगेन केवलम्। गुर्वधीना हि भवति प्रपतिः कायिकी क्वचित्। अविज्ञातार्थ तत्वस्य मंत्रमीरचत: परम। गुर्वधीनस्य कस्यापि प्रपत्तिर्वाचिकी भवेत्। न्यास लिंगवतांगेनधियार्थज्ञस्य मंत्रत:। उपासित गुरो: सम्यक प्रपत्तिर्मानसी भवेत्।[3]

अत: ईश्वरोपासना के दो रूपों-निर्गुण तथा सगुण में कोई तात्विक दृष्टि से भेद न होते हुए भी संतों, आचार्यो ने अनेक मार्ग को अपनाया। जिसमें पूजा, अर्चन, आरती आदि सगुण विचार धारा में विशेष महत्व प्राप्त करते हैं, जिसमें नाम स्मरण की सर्वश्रेष्ठता पर बल दिया गया है। वैष्णव आचार्यो ने नाम जप की श्रेष्ठता स्थापित करते हुए कहा कि इससे कलुष कर्मो के कारण फलोद्भूत अंधकार विलीन हो जाता है:—

---

1 रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव-डॉ० बद्रीनारायण श्रीवास्तव पृ० 281-283। (हिन्दी परिषद प्रकाशन इला० वि० इलाहाबाद)

2 पाचरात्र, लक्ष्मीतन्त्र सहिता।

3 रामानन्द सम्प्रदाय हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव, डॉ० बद्रीनारायण श्रीवास्तव पृ० 281-283।

अघतिमिर दुरत हरि नाम तै।

ज्यों रजनी चलिबे को चंचल थिर न रहत रवि घाम तै।

सुमिरन सार प्रकट जस जाकौ, भव तारन गुन ग्राम तै।

जीवन मरन विघन टारन कोई, और नहीं बड़ श्याम तै।

कलह केलि कुल काल कलपना, कटत कल्पतरु छाम तै।

तन मन शुद्ध करन करुनामय, वर निर्मल निहकाम तै।

मिटत दुरत दुर्बास दुसह दुख, सुख उपजत अभिराम तै।

पतित पतित पावन पद पर्सत, छूटत छल, बल काम तै।

हरि-हरि-हरि सुमिरन सोई सुकृत, विरता मत धन धाम तै।

असरन सरन प्रेम रत जन कौ, करन अरति भ्रम भाम तै।

हरि सुमिरै ताको भय नाहीं, निर्भय निज विश्राम तै।

लिए नहीं संसार सु परसा, अधिकारी जल जाम तै॥ 10।[1]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल सगुण धारा पर विचार करते हुए लिखते हैं कि जगत प्रसिद्ध स्वामी शंकराचार्य जी ने जिस अद्वैतवाद का निरूपण किया था, वह भक्ति के सन्निवेश के उपयुक्त न था। यद्यपि उसमें ब्रह्म की व्यवहारिक सगुण सत्ता को भी स्वीकारा था, पर भक्ति के सम्यक् प्रसार के लिए जैसे दृढ़ आधार की आवश्यकता थी वैसा दृढ आधार स्वामी रामानुजाचार्य जी (सं०1073) ने खड़ा किया। उनके विशिष्टाद्वैत के अनुसार चिदचिद्विशिष्ट

---

1 हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रकरण 4 पृ० 64।

ब्रह्म के ही अंश जगत् के सारे प्राणी हैं, जो उसी से उत्पन्न होते हैं और उसी में लीन होते हैं। अतः इन जीवों के लिए उद्धार का मार्ग यही है कि वे भक्ति द्वारा उस अंशी का सामीप्य लाभ करने का प्रयत्न करें। रामानुज जी की शिष्य परम्परा देश में बराबर फैलती गई और जनता भक्ति मार्ग की और अधिक आकर्षित होती रही।[1]

इस प्रकार ''मध्ययुग में राम और कृष्ण, दो अवतारों के आधार पर सगुण सम्प्रदाय संगठित हुए। रामभक्ति का संगठित प्रचार रामानुज जी के परम्परा मे रामानंद के श्री वैष्णव सम्प्रदाय द्वारा किया गया।......... ......कृष्ण भक्ति के सम्प्रदायों में नियमों और आचारों की कठोरता अधिक है। मध्ययुग में निम्बार्काचार्य और मध्वाचार्य के सनकादि और ब्रह्म नामक प्राचीन सम्प्रदायों के अतिरिक्त पुष्टिमार्ग या बल्लभ सम्प्रदाय, राधाबल्लभ सम्प्रदाय, सखी-सम्प्रदाय और गौणीय वैष्णव सम्प्रदाय अधिक प्रभावशाली थे। इन्हीं सम्प्रदायों ने कृष्ण या राधाकृष्ण को इष्ट देव मानकर उनकी लीलाओं का गान करते हुए सगुण भक्ति का प्रचार किया।[2]

अस्तु आगे सगुण भक्ति धारा की दो उपधाराओं-रामभक्ति धारा, कृष्ण भक्ति धारा के अन्तर्गत वर्ण्य विषय का मूल्यांकन क्रमशः किया गया है—

---oo---

1 हिन्दी साहित्य का इतिहास प्रकरण 4 पृष्ठ 64।

2 हिन्दी साहित्य कोश भाग 1 पृ० 717।

(क) रामभक्ति धारा

भारतीय भक्ति भावना तथा वैष्णव धर्म में राम भक्ति की व्यापकता देखकर इस तथ्य पर सहज ही विश्वास नहीं होता कि भक्ति मार्ग तथा वैष्णव धर्म की उत्पत्ति और विकास के बहुत शताब्दियो बाद रामभक्ति का जन्म हुआ था।[1]

यज्ञ प्रधान ब्राह्मण-धर्म के प्रतिक्रियास्वरूप भागवत धर्म उत्पन्न हुआ था, जिसमें पहले-पहल भारतीय भक्तिमार्ग पल्लवित हो सका। बाद में भागवतों के इष्ट देव वासुदेव कृष्ण वैदिक देवता विष्णु के अवतार माने गये हैं और इस प्रकार भागवत तथा ब्राह्मण-धर्म के समन्वय से वैष्णव धर्म की उत्पत्ति हुई। इस समय से लेकर भक्ति-भावना विष्णु-नारायण-वासुदेव-कृष्ण में केन्द्रीभूत होकर उत्तरोत्तर विकसित होने लगी। ईसवी सन् के प्रारम्भ से राम भी विष्णु के अवतार के रूप में स्वीकृत होने लगे, किन्तु शताब्दियों तक राम-भक्ति का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। गोपाल भण्डारकर का कहना है कि भक्ति के क्षेत्र में राम की प्रतिष्ठा विशेष रूप से ग्यारहवीं शताब्दी ई० के लगभग प्रारम्भ हुई।[2]

राम काव्य परम्परा का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रंथ वाल्मीकिकृत 'रामायण' है, इसकी रचना सम्भवत: चौथी सदी ई० पू० के अन्त में हुई थी। किन्तु रामभक्ति की पहली अभिव्यक्ति 'आलवारो' के रचनाओं में देखने को मिलती है। जिसमें शठकोपाचार्य नाम के आलवार भक्त ने तत्कालीन समाज में प्रतिष्ठित कृष्ण भक्ति प्रणाली के विपरित रामभक्ति को स्वीकार किया तथा इस भक्ति का प्रचार तथा प्रसार किया।

---

1 हिन्दी साहित्य कोश, भाग 1, पृ० 545।

2 वहीं पृ० 545।

राम भक्ति धारा का शास्त्रीय विवेचन ईसा की प्राराम्भिक शताब्दियों में 'विष्णुपुराण' (सन् 400 ई०), 'राम पूर्वतापनीय उपनिषद्' और 'राम उत्तरतापनीय उपनिषद' के अन्तर्गत किया गया, जिसमें राम को ब्रह्म का अवतार घोषित किया गया है।[1] कुल शेखर (नवीं सदी ई०) के पदों में भी रामभक्ति संबंधी काव्य अंकित है।

अत: शास्त्रीय विवेचन का आधार पाकर रामभक्ति का प्रचार-प्रसार बढ़ने लगा। श्री सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य रामानुज ने अपने भाष्यो मे अवतारों की चर्चा करते हुए राम और कृष्ण, दोनों का उल्लेख किया तथा बाद में उनके सम्प्रदाय मे पहले-पहल परमपुरुष के अवतार राम तथा मूल प्रकृति सीता की दास्य भक्ति का प्रतिपादन किया गया। राम भक्ति संहिताओं में 'अगस्त्यसंहिता, कलिराघव', 'वृहदराघव' और राघवीय सहिता महत्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त श्री सम्प्रदाय में तीन उपनिषदों में राम-पूजा का भी निरूपण मिलता है— 'रामपूर्व तापनीय, (11 वी०श०ई०), रामत्तरतापनीय तथा राम रहस्योपनिषद्।[2]

रामभक्ति के प्रचार में सबसे अधिक स्तुत्य कार्य रामानन्द ने किया। जातिबधन के प्रति रामानन्द कठोर नहीं थे।[3] रामानन्द श्री सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे, किन्तु वे उस सम्प्रदाय की रामभक्ति को एक नया रुप देकर रामावत सम्प्रदाय के प्रवर्तक बन गये। उनकी प्रमाणिक रचनाएँ 'श्री वैष्णव-मताब्जभास्कर' और 'श्रीरामार्चना पद्धति' है। रामानन्द की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उन्होंने सामान्य जन को रामभक्ति से जोड़ा और साथ ही जनभाषा को भक्ति साहित्य का माध्यम बनाया।

अस्तु राम भक्ति धारा के अन्तर्गत मध्यकाल में रामानन्द के परम्परा में अनेक संत महात्माओं ने अपनी वाणी से जन साधारण वर्ग के अशांत चित् को शांत करने में महती

---

1 हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास- डॉ० रामकुमार वर्मा पृ० 480।

2 हिन्दी साहित्य कोश भाग-1 पृ० 546।

3 सगुण और निर्गुण हिन्दी साहित्य - डॉ० आशागुप्ता पृ० 44।

भूमिका का निर्वहन किया, जिसमें प्रधान रूप से 'रामचरित मानस' के रचयिता गोस्वामी तुलसीदास का स्थान सर्वोपरि है।

रामानन्द ने राम को उपास्य मानकर 'राम के प्रति अनन्य शरणागति को ही चरम साधना माना था। डॉ० बदरीनारायण श्रीवास्तव ने 'रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव' नामक ग्रथ में विस्तार से रामानन्द के मत को उद्घाटित किया है, जिसके कुछ अश दृष्टव्य है—

(1) सीतापति भगवान राम समस्त गुणों के एक भाग आकार जगत के हेतु एवं सबके संरक्षक, शेषी तथा उपास्य हैं। वे सबके बन्धु, सबके प्राप्य, सर्व दोषरहित एवं कल्याण गुणाकार हैं। यही भगवान राम सत्य स्वरूप, आनन्द स्वरूप तथा चित्स्वरूप हैं और निखिल विभूति के स्वामी है।

(2) स्वयं विष्णु ही राम के रूप में अवतीर्ण हुए थे। वे राम ही राजा दशरथ के पुत्र थे, जानकी जी उनकी पत्नी थी, पिता की आज्ञा मानकर उन्होंने चित्रकूट को अपना निवास स्थान बनाया था और कानन में 14 वर्ष बिताए थे। इन्होंने भक्तों के भय को दूर किया था, सुग्रीव को राज्य दिया और रावण को मारकर सबको सुखी बना दिया था।[1]

उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट होता है कि रामानन्द के समय में ही रामभक्ति का निवास अपने सम्पूर्ण रूप में स्थापित हो गया था,जिसको मध्यकालीन जनता के हृदय में स्थापित करने का श्रेय गोस्वामी तुलसी दास को है जिन्होंने सं० 1631 में रामचरित मानस की रचना की तथा इसके अतिरिक्त रामभक्ति धारा पर अनेक ग्रंथ लिखे। इस परम्परा मे जिन भक्त कवियों ने अपने रचनाओं के द्वारा जनमानस को प्रभावित किया,उसमें स्वामी अग्रदास, नाभादास जी, प्राणचंद चौहान, हृदय राम आदि प्रमुख हैं।

---

1 रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव पृ० 249, 242।

अस्तु मध्यकाल में रामभक्ति धारा के अन्तर्गत उन समस्त मूल्यों का निर्धारण किया गया है, जो एक प्रगतिशील समाज स्वप्न देखता है। भक्ति के जिस रूप को भागवत के आधार पर समाज में प्रतिष्ठित किया गया था, उस भक्ति में प्रेम का वीज कबीर ने रोपा, जिसका थाला तुलसी के तक आते-आते बदल गया तथा एक निखरा हुआ वृक्ष तैयार हुआ जिसके तले सभी बैठकर सुख की अनुभूति कर सकते थे।

जनवादी दृष्टि प्रगतिशील दृष्टि है। जिस साहित्य में भविष्य के प्रति देखने की शक्ति नहीं है और अपने समाज के जन साधारण के हृदय की गति को नहीं मापाहै वह साहित्य जनवादी नहीं हो सकता। मध्यकालीन भक्ति आंदोलन में रामभक्ति धारा में वे सभी तत्व मौजूद है, जो एक जनवादी साहित्य के रूप में अपनी पहचान स्थापित कर सकते हैं।

तुलसी के राम जिस लोक मे प्रतिष्ठित किए गए हैं, वह 19वीं-17वीं सदी का भारत है, जो नाना प्रकार की विषमताओं से ग्रस्त है। इस विषमता-ग्रस्त समाज का चित्रण तुलसी ने कलियुग के माध्यम से किया है। इसमें दैहिक, दैविक, भौतिक, ताप हैं, गरीबी, अकाल महामारी, नारी, पराधीनता, कपटी, कुटिल, भूप, कराल, दंड नीति, दुर्जन-सज्जन, जलज-जोंक, खल-साधु आदि सब हैं, इस देश के लोग, वन-उपवन नदी-तालाब, सुन्दरता-कुरुपतामय पूरा जीवन और जगत् मौजूद है। तुलसीदास महान देशप्रेमी और मुख्यत: किसान जीवन के कवि हैं। उनकी कविता में अन्न, फसल, बादल, ओले, वर्षा, धान, दूब आदि का उल्लेख बार-बार आता है। चित्रकूट के कोल - किरातों के वन्य जीवन से उनका परिचय और प्रेम काफी गहरा मालूम पड़ता है। वे इस देश की सीता और पार्वती जैसी स्त्रियो से ही नहीं शूर्पणखा, मंथरा और कैकेयी जैसी स्त्रियों से भी परिचित थे। (लोकवादी तुलसी दास-विश्वनाथ त्रिपाठी भूमिका)।

अस्तु देखा जाए तो तुलसी के काव्य में मध्यकालीन जन मानस का पूरा सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा धार्मिक चित्रण उभर कर सामने आ जाता है। उनकी भक्ति राम

के प्रति सम्पूर्ण समर्पण की भक्ति है। राम के बिना वे जीवन की कल्पना तक नहीं कर सकते। रामोन्मुखता तुलसी का सबसे बडा जीवन मूल्य है, "जारि जाउ सो जीवन जानकी नाथ। जियइ जग में तुम्हारो बिनु ह्वै।"[1] यहॉ यह स्पष्ट है कि तुलसी दास की भक्ति राम से प्रारम्भ होकर राम में समा जाने वाली है। राम की कथा कलिकाल में दु:ख को हरण करने वाली है: "मंगल कराने कलि-मल हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की"।

राम के जिस चरित्र की रूपरेखा गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित मानस तथा अपने अन्य काव्यों में अंकित की है वह सर्व मंगलकारी हैं, जो तत्कालीन समाज के भाव बोध से अनुप्रमाणित है। तत्कालीन समाज का चित्र उभारते हुए तुलसी दास लिखते हैं :-

बलि बारहिं बार दुकाल परै। बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै॥

नर पीड़ित रोग न भोग कहीं। अभिमान विरोध अकारन ही॥

लघु जीवन संबंत पंचदसा। कलपांत न नास गुमान असा॥

कलि काल विहाल किए मनुजा। नहिं मानत कोउ अनुजा तनुजा॥

नही तोष विचार न सीतलता। सब जाति कुजति भए मंगता॥

— कवितावली

अर्थात कलिकाल में दरिद्रता, दुर्भिक्ष, दुख, दुर्वत्ति और कुशासन दिनों-दिन दूने होते जा रहे हैं : दिन-दिन दूनों देखि दारिदु, दुकाल, दुखु, दुरितु, दुराजु सुख-सुकृत सकोच हैं, के कारण किसान के पास खेती नहीं है, भिखारी को भीख नहीं मिलती, वणिक का व्यापार बंद है, जीविका विहीन होकर दु:खी लोग इधर-उधर घूमते हुए एक दूसरे से कह रहे हैं—

---

1 लोकवादी तुलसीदास, विश्वनाथ तिवारी, (तुलसी के राम पृ० 11)

कहाँ जाऐं क्या करें। संकट के समय एक मात्र राम का ही सहारा है। हे दीनबन्धु राम दुनिया को दरिद्रता रूपी रावण ने दबोच लिया है— तुलसी की पुकार कराह उठती है:—

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख बलि,

बनिक को बनिज, न चाकर को चाकरी।

जीविका विहीन लोग सीधमान सोच बस

कहै एकएकन सों. कहाँ जाई का करीं।

× × × × ×

दारिद-दसानन दबाई दुनी दीनबन्धु

दुरित दहन देखि तुलसी हहा करी।।

(कवितावली)

इस प्रकार ऐसे परिवेश में जन साधारण को एक ऐसे उपास्य की आवश्यकता थी, जो उनके अन्दर शक्ति का संचार कर सके। अत: अपने मन: शान्ति के लिए मध्यकालीन जनता ने राम के सगुण रूप का गुणगान तथा त्राणकारी के रूप में अपने शोक को हरण करने वाले के रूप में अपने आस-पास हर जगह व्याप्त पाया। तुलसी के राम वाल्मीकि और भवभूति के राम नहीं है। तुलसी के राम लोक जीवन के निकट हैं। वे सर्व-शक्तिमान अवतारी पुरुष होते हुए भी जनता के सुख दुख तथा मानवीय अन्तर्द्वन्दों से पूरित हैं। मानवीय करुणा के अवतार हैं। मंगल और विवेक का समावेश उनके काव्य का और राम के चरित्र का महत्वपूर्ण पक्ष है। तुलसी के राम लोक चेतना तथा विवेक के विधायक और प्रतीक है। राम 'मंगल भवन अमंगलहारी हैं, और दु:खी भी उन्हें प्रिय हैं —

गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न

बन्दउँ सीताराम पद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न।।

(रामचरित मानस)

'विनयपत्रिका' के प्रसंग में तुलसी ने राम नाम के महात्म्य को स्थापित करते हुए - यह भी लिखा है कि वे निस्संबल, असहाय, अभागे आदि दीनों के बंधु है :—

सुमिरु सनेह सो तू नाम राम राय को।

संबल निसंबल को, सखा असहाय को॥

भाग है अभागेहू को, गुन गुन हीन को।

गाहक गरीब को, दयालु दानि दीन को॥

कुल अकुलीन को, सुन्यो हैं बेद साखि है।

पाँगुरे के हाथ पाँव आंधरे को आँखि है॥

माय-बाप भूखे को, अधार निराधार को।

सेतु भव सागर को, हेतु सुख सार को॥

पतित पावन राम नाम सो न दूसरो।

सुमिरि सुभुमि भयो तुलसी सो ऊसरो॥

(विनय पत्रिका)

उपरोक्त पंक्तियों में तुलसी ने उन समस्त निस्सहायों को एक ऐसा संबंल प्रदान किया है, जो तत्कालीन समाज मे निम्नतर जीवन यापन कर रहे हैं। निश्चय ही उनके भावनाओं को संबंल प्रदान करता हुआ यह काव्य जीवन शक्ति के रूप में उपस्थित हुआ है।

सामाजिक परिस्थितियों का दबाव प्रत्येक साहित्यकार पर होता है वह अपने युग के साथ-साक्षात्कार करता हुआ खुली आंखों से उसे देखता है, निरखता है तब उसके यर्थाथवादी तत्वों को, जो समाज को दिशा दे सके, का चित्रण करता है—ऐसा ही काव्य

प्रगतिशील कहलाता है। तुलसी के राम जनसाधारण वर्ग को शक्ति प्रदान करने वाले राम हैं। वे जन सामान्य की भावनाओं को आदर करने वाले हैं।

रामकथा प्रसंग में आता है कि वाल्मीकि और भवभूति के राम ने सम्बूक नामक एक शूद्र की मात्र इसलिए हत्या कर दी थी कि वह यज्ञ करके देवलोक को जाना चाहता था—

न मिथ्याहं वदे राम! देव लोक जिगीषया।

शुद्र मां विद्धि काकुत्स्थ! शम्बूको नाम नामतः।

(रामायण)

उस शूद्र के मुख से यह (मुझे शूद्र जानो) निकलते ही राम ने रूचि प्रभा वाली विमल तलवार को म्यान से निकालकर उसका सिर काट लिया[1]

भाषतस्तस्य शूद्रस्य खड्गं सुरुचिर प्रभम्

निष्कृस्य कोशद्विमलं शिरश्चिच्छेद राघवः।

वाल्मीकि के राम में शुद्र तपस्वी का वध करते समय कोई अन्तर्द्वन्द्व नही है, जैसे ही तपस्वी शूद्र सुना उसका सिर काट लिया,लेकिन भवभूति के राम के हृदय में शम्बूक को मारते समय अन्तर्द्वन्द्व है। उनके मन में करुणा का प्रादुर्भाव होता है, फिर अपने को निर्मम बताते हुए कहते हैं कि कठोरगर्भा सीता को घर से निकाल देने वाले मेरे दाहिने हाथ तुझमे करुणा कहाँ।[2]

---

1 लोकवादी तुलसीदास, तुलसी के राम, विश्वनाथ तिवारी पृ० 22।

2 वही पृष्ठ 22।

रे हस्त दक्षिण। मृतस्य शिशोर्द्विजस्य

जीवातवे बिसृज शूद्रमुनो कृपाणम्

रामस्य गात्रमसि दुर्वह गर्भ खिन्न

सीता विवासन पटोः करुणा कुतस्ते।

(उत्तर रामचरित)[1]

यहाँ 'करुणा कुतस्ते' यानी राम के हृदय में करुणा का भाव जागृत है— जो समय के बदलाव के कारण है। भवभूति के राम, शुद्र तपस्वी का तुरन्त वध नहीं करते-मारते भी हैं तो किसी तरह मुश्किल से मार पाते है,हाथ हीं नहीं चलता। मारने के बाद भी पश्चाताप करते हुए कहते हैं ''राम जैसा कृत्य तुमने किया, अब तो ब्राह्मण शिशु जिए।'' (कथंचित प्रहत्य) कृतं राम सदृशं कर्म । अपि जीवेत्स ब्राह्मण शिशुः (उत्तर रामचरित - भवभूति)।

तुलसी ने रामचरित मानस में राम द्वारा शूद्र तपस्वी कावध नहीं करवाया है। भक्तिके आलम्बन राम शूद्र (तपस्वी) का वध कैसे कर सकते थे। भक्ति आंदोलन में वर्ण-व्यवस्था शिथिल पड़ती है नहीं तो जो भी हमारे संत भक्त कवि हुए - उनका प्रादुर्भाव नहीं हुआ होता— यह बात विचारणीय हैं और सामान्य जन साधारण वर्ग अपने अन्दर शक्ति का संचार पाता है और ईश्वर अराधना का संबंल पा-कर अपनी आध्याधिक तृषा को तृप्त करता है।

जनवादी साहित्य में ऊँच-नीच की भावना समाप्त हो जाती है यहाॅ सांमत-वर्ग और जनसाधारण वर्ग के बीच भेदत्व समाप्त हो जाता है। ऐसा ही एक उदाहरण बालकाण्ड में देखने को मिलता है जब राम राजकुमार होते हुए भी सामान्य जन के बालकों के साथ खेलते हैं—

---

1 भवभूति कृत उत्तर राम चरित।

भोजन करत बोल जब राजा। नहिं आवत तजि बाल समाजा।

कौसल्या जब बोलन जाई। ठुमुक-ठुमुक प्रभु चलहि पराई॥

धूसर धूरि भरे तनु आए। भूपति बिहंसि गोद बैठाए॥

भोजन करत चपलचित दूत उन अवसरु पाई॥

भाजि चले किलकल मुख दधि ओदन लपटाई॥

(रामचरित मानस, बालकाण्ड)

राम मानवता के प्रतीक के रूप में, जनवादी चेतना की शाक्ति के रूप में अपने चरित्र का निर्वहन करते हैं। राम का स्वरूप घट-घट में निवासकरने वाला है। तुलसीदास ने राम के सर्वव्यापी, सर्वसुलभ रुप का ही वर्णन अपने काव्यों में किया है, जो सर्वथा जन कल्याण की भावना के निमित्त कर्म को रुपायित करने में लगे रहते है।

आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि 'भक्ति का सिद्धान्त है भगवान को बाहर जगत् में देखना। 'मन के भीतर देखना' यह योगमार्ग का सिद्धान्त है, भक्तिमार्ग का नहीं। ... .. भक्ति रागात्मिका वृत्ति है, हृदय का एक भाव है। प्रेम भाव उसी स्वरूप और उसी गुणसमूह पर टिक सकता है,जो दृष्य जगत् में हमें आकर्षित करता है। इसी जगत् के बीच भाषित होता हुआ स्वरूप ही प्रेम या भक्ति का आलंबन हो सकता है।... ...भक्ति केवल ज्ञाता या द्रष्टा के रूप में ही ईश्वर की भावना लेकर संतुष्ट नही हो सकती। वह ज्ञातृपक्ष और ज्ञेयपक्ष दोनों को लेकर चलती है।[1]

---

1 गोस्वामी तुलसीदास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पृ० 6।

अतः गोस्वामी जी की भक्ति उपरोक्त दोनों पक्ष अर्थात् ज्ञातृपक्ष तथा ज्ञेयपक्ष दोंनो को लेकर चलती है। जिस वातावरण में हम रहते हैं उस वातावरण में अपने संबंधों की पहचान करते हुए - ईश्वर की सत्ता का बोध भी हमें उसी वातावरण में करना चाहिए। भक्ति निष्काम होनी चाहिए—'सो तुम जानहुँ अन्तर्यामी, दुखहूँ मोर मनोरथ स्वामी'[1] अर्थात् ईश्वर की आराधना स्वार्थपरता परक नहीं होनी चाहिए। वह सर्वज्ञ है अतः आप की समस्त दुःख सुख सब उसके हैं, वह आपकी सदैव रक्षा करने वाला है। वह घट-घट में व्याप्त है। सिया राम मैं सब जग जानी'[2] जाति के सभी रुपों में वह व्याप्त है।

अस्तु ऐसे 'राम' जो दीनों के बंधु हैं— उनके लोक कल्याणकारी रूप का सृजन कर गोस्वामी तुलसीदास ने जन सामान्य के हृदय में आत्मसम्मान के भाव का संचार किया।

मानव जीवन की पूर्णता जन पक्षधरता में निहित है। जन सामान्य वर्ग जिस समाज मे अपने आस-पास सरल भाव बोध का अनुभव करता है और जाति-पाँति, वाह्याडम्बर आदि की भावना से ऊपर उठकर 'लोकहित' या 'लोकचेतना' के स्तर पर समाज की गतिशील भूमिकाओं का निर्वहन करता है— वही समाज और मनुष्य जनवादी स्तर पर एक बेहतर भविष्य की कामना कर सकते हैं।

मध्यकालीन जन समुदाय किस तरह का जीवन बीता रहा था और 'राम' के प्रतीक को ग्रहण कर तुलसी ने उस गिरते हुए मूल्यों को स्थापित करने का किन-किन स्थलों पर प्रयास किया है— इसका साक्ष्य राम के लोक धर्मी चरित्र में स्पष्ट परिलक्षित होता है। 'धर्म के सब पक्षों का ऐसा सामंजस्य जिससे समाज के भिन्न-भिन्न व्यक्ति अपनी प्रकृति और

---

1 रामचरित मानस

2 वही

विद्या-बुद्धि के अनुसार धर्म का स्वरूप ग्रहण कर सकें।'[1] यही भाव लेकर तुलसीदास ने राम की भक्ति का प्रचार-प्रसार किया। रामकथा के माध्यम से मनुष्य जीवन के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला तथा राम द्वारा उसका समाहार भी करवाया-जिससे जनसाधारण वर्ग को अपने 'स्व' का मूल्यांकन कर सके।

जन साधारण के सम्पर्क मे राम वन गमन के समय आते हैं। राम जन साधारण से इस प्रकार मिलते हैं जैसे मित्र। यहॉ तक बात ध्यान देने की है कि ग्राम बस्तियों में राजकुमार का आगमन मानो अयोध्या का ग्राम्य के साथ तादात्म्यीकरण हो। निषाद प्रसंग में निषाद राज ने भगवान राम से कहा कि मेरे लिए तो वही अयोध्या है जहाँ राम हों। कहने का आशय यह है कि यहाँ राजमहल और गावों का जो फासला है समाप्त हो जाता है। जो सच्चे अर्थो में एक ऐसे समाज को दर्शित करता है, जिसमें ऊँच-नीच की भावना विगलित हो जाती है।

हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को राम-गमन का प्रसंग अत्यन्त प्रिय है, जो मर्म-स्पर्शी होने के साथ-साथ लोक रक्षा में राम के प्रवृत्त होने का प्रस्थान विरुद्ध भी है।— राम का अयोध्या त्याग और पथिक वेश में वन गमन, चित्रकूट में राम और भरत का मिलन, शबरी का आतिथ्य, लक्ष्मण को शाक्ति लगने पर राम का विलाप आदि प्रसंग ऐसे हैं, जो मर्मस्पर्शी होने के साथ ही राम के लोकधर्मी चरित्र को उद्घाटित करते हैं, जो तत्कालीन समय की माग भी थी।

अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'तुलसीदास' में आचार्य शुक्ल लिखते हैं'' पथिक वेश में राम-लक्ष्मण वन के मार्ग में चले जा रहे है। (क्षमा कीजिएगा यह दृश्य हमें बहुत मनोहर

---

1 गोस्वामी तुलसीदास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पृ० 14।

लगता है, इसी से बार-बार सामने आया करता है)[1] यह दृश्य शुक्ल जी को यों ही मनोहर नहीं लगता है। राम वनगमन के द्वारा राम जीवन के व्यापक कर्मक्षेत्र में उतरते हैं। रामवनगमन उनके लोकरक्षा में प्रवृत्त होने की भूमिका है। इसी मनोहर दृश्य में करुणा के बीच भाव का वर्णन होता है।[2] शुक्ल जी के शब्दों में —''एक सुन्दर राज कुमार के छोटे भाई और स्त्री को लेकर घर से निकलने और वन-वन फिरने से अधिक मर्मस्पर्शी दृश्य क्या हो सकता है।''[3]

अतः राम का समस्त राज्य वैभव त्याग को लोक रक्षार्थ जन साधारण की भावभूमि पर उतर कर संघर्ष करना उनको जन सामान्य वर्ग का 'नायक' बना देता है। ''तुलसी के राम का यह सामान्य और लोकप्रिय रूप सबसे अधिक आकर्षक है.. ...... वन मार्ग के पथिक राम से केवट भी प्रेम लपेटे अटपटे बैन बोल लेता है, राम की पत्नी सीता राम से ग्राम बधुएं सहज भाव से वार्तालाप कर लेती हैं और वन मार्ग के पथिक राम वे राम है, जिनका खाना-पीना, सोना, उठना-बैठना साधारण ग्रामीणों, वन्य जनों जैसा हो जाता है। राम नंगे पैर चलते हैं तो तपती धूम से उनके पैर जलते हैं, सीता के पैरो में काँटे गड़ते हैं। राम का यह अतिसाधारण और सहज रुप उन्हें लोक प्रिय बनाता है।[4] मध्यकाल जिसमें राज्य वैभव अपनें सांमती जीवन में इतना मंदांध था जिसका आभास तुलसीदास के इस कथन से होता है—

---

1 तुलसीदास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पृ० 104।

2 हिन्दी आलोचन-विश्वनाथ त्रिपाठी पृ० 741।

3 तुलसीदास - आचार्य शुक्ल पृ० 79।

4 लोकवादी तुलसीदास- विश्वनाथ त्रिपाठी पृ० 26।

वेद – पुरान विहाई सपंथु, कुमारग कोटि कुचालि चली है।

कालु कराल, नृपाल कृपाल न, राज समाजु बड़ोई छली है।

बर्न विभाग न आश्रम धर्म, दुनी दुःख – दोष दरिद्र दली है।[1]

ऐसा समाज जहाॅ वेद पुराण का मार्ग खत्म हो गया, कुमार्ग चल निकला, समय कराल है, राजा कृपालु नहीं है, राज समाज छली है, वर्णाश्रम व्यवस्था नहीं है, दुनिया दुख, दोष और दरिद्रता से पीड़ित है, में तुलसीदास ने राम के ऐसे चरित्र का सृजन किया जहाॅ वह अति साधारण जन के साथ भी अपने सुख-दुख को व्यक्त करते हैं और संतोष तथा कर्म के मार्ग को प्रशस्त करते हैं। वह समाज, जिसमें स्त्री का घर से निकलता निषेध है, परदा प्रथा के आड़ में स्त्री जाति की उपेक्षा तथा बहुपत्नी प्रथा का बोल बाला है, सीता के चरित्र के साथ उन मिथकों तो तुलसी तोड़ते प्रतीत होते है कि स्त्री मात्र गृह के अन्दर रहने वाली मजदूर स्त्री नहीं है। सीता का राम के साथ कदम से कदम मिलाकर वन के मार्ग पर चलना-कर्म पथ का संदेश देता प्रतीत होता है। उस समाज के नब्जों को किस प्रकार तुलसी ने पकड़ा है यह दृष्टव्य है—

पुरते निकर्सी रघुवीर बधू, धरि धीर दए मग में डग द्वै।

झलकी भरि भाल कनीं जल की, पुट सूखि गए मधुराधर वै।।

फिरि बूझति हैं, चलनो अब केतिक, पर्न कुटी करिहौं कित ह्वै ?

तिप की लखि आतुरता पिय की अंखिया अति चारू चलीं जल च्वै।।

जल को गए लक्खनु हैं लरिका परिखौ पिय! छाहॅ घटीक ह्वै ठाढे।

---

1 कवितावली गोस्वामी तुलसीदास।

पोंछि पसेउ बयारि करौ अरू पाय खराहिरौं भूमुरि डाढ़े।।

तुलसी रघुवीर प्रिया श्रम जानि कै बैठ बिलंब लौ कंटक काढ़े।।

जानकी नाह को नेहु लख्यो पुलको तनु बारि बिलौचन बाढ़े।।[1]

यहाँ कतिपय आलोचक यह सिद्ध करना चाहते हैं कि राम सीता के पैरों से काँटा निकाल रहें हैं, लेकिन निश्चित तौर पर उपरोक्त पाठ का भाष्य ठीक ढंग से नहीं करते हैं। यहाँ राम की मंशा यह है कि श्रम के कारण सीता थक सी गई होगी अतः राम अपने पैर का काँटा निकालते हुए थोड़ा विलम्ब इसलिए करते हैं कि सीता की विश्राम करने के लिए समय मिल जाए। मेरे दृष्टि से लोक में मर्यादा स्थापित करने वाले कवि तुलसीदास भारत की उस परम्परा, जिसमें स्त्री अपने पति को भगवान के समान मानती है, कभी भी स्त्री के पैर से काँटा निकलवाने की बात नहीं करेंगे। यह भारतीय दृष्टि की अपनी विशेषता है।

चित्रकूट की सभा रामकाव्य को लोकादर्श के उच्च शिखर पर पहुँचा देता है। राम निषाद राज को अपना सखा कहते हैं, जो निःसंदेह मध्यकालीन समाज में जो अहंकारी कठमुल्ले पंण्डित जाति व्यवस्था के पक्षधर हैं उनको इस बात से ठेस पहुँची होगी क्योंकि एक क्षत्रिय होकर शूद्र को गले से लगाना निश्चित तौर पर उन्हें अच्छा नहीं लगा होगा। लेकिन तुलसी तो एक ऐसे राज्य की कल्पना करना चाहते हैं जहाँ प्रत्येक प्राणी अपने धर्म के अनुसार व्यवहार जगत में कर्मरत हो-यही दृष्टि जनवादी है। भरत जब सुनते हैं कि निषाद राम-सखा हैं तो उनसे मिलने के लिए रथ से उतर कर पैदल चलते हैं। इधर केवट ने अपनी जाति और गाँव आदि का नाम लेते हुए जमीन पर सिर टिका कर जोहार किया, उधर भरत ने उसे हृदय से लगा लिया और ऐसे भेंटा मानो लक्ष्मण को भेंट रहे हों—

---

1 कवितावली तुलसीदास।

राम सखा सुनि स्यंदनु त्यागा। चले उतरि उमगत अनुरागा।

गाउँ जाति गृहँ नाउँ सुनाई। कीन्ह जोहारू माथ महिलाई॥

करत दंडवत देखि तेहि भरत लीन्ह उर लाई।

मनहुँ लखन सन भेट भइ प्रेम न हृदय समाई॥

—रामचरित मानस।

इस प्रसंग में भरत का निषाद से भेंटना तथा फिर वाशिष्ठ मुनि द्वारा निषाद राज को गले से लगाना मध्यकालीन चेतना के भावबोध से जुड़ा हुआ प्रसंग है। रामचरित मानस मे प्रसंग आया है कि शबरी, जो वन्य जाति की स्त्री है— "अधम ते अधम अधम अति नारी। तिन्ह मंह मैं मतिमंद अधारी" हैं। लेकिन राम उसका आतिथ्य ग्रहण करते हैं और प्रेम से उसके द्वारा दिए गये कंद-मूल-फल का सेवन करते है। यहाँ एक वन्य जाति के स्त्री का आतिथ्य स्वीकार करना 'राम' के लोकधर्मी चरित्र को पुष्ट करता है। जब शबरी कहती है कि मैं अधम ते अधम अधम अति नारी' तो राम कहते है—

नव महुँ एकौ जिन्ह कें होई। नारि पुरुष सचराचर कोई॥

सोई अतिराय प्रिय भामिनि मोरे। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे॥

अर्थात् इस संसार में जो कोई भी नवधा भक्ति के आन्तरिक मेरी भक्ति करता है वह मेरा सबसे प्रिय होता है।

लोक चेतना को जागृत करने का प्रयास तुलसी दास का अभिष्ट लक्ष्य रहा है। भारतीय साहित्य में दो महाकाव्यों में-महाभारत तथा रामचरित मानस - एक विरोधी तत्व का सृजन करते हैं। रामकथा की जनपक्षधरता मे पहचान इसी से की जा सकती है कि एक महाकाव्य का भाई एक दूसरे को सुई की नोक के बराबर जमीन तक देने को तैयार नहीं है

और कहाँ एक भाई दूसरे के लिए सहर्ष राज्य गद्दी त्याग देता है और उस भाई की भी महानता देखिए कि बड़े भाई के खड़ाऊ को लाकर राजगद्दी पर रखकर शासन चलाता है। तुलसी कहते हैं कि–

जाके प्रिय न राम वैदेही,

ताजिए ताहि कोटी वैरी सम यद्यपि परम सनेही।

(विनय पत्रिका)

अर्थात् जिसे राम और सीता प्रिय नहीं है वह मेरा परम स्नेही होते हुए भी कोटि-कोटि वैरी के समान है। यह त्याग, शील, विनय की भावना अन्य किसी भी काव्य में दृष्टिगत नहीं होती।

राम की भक्ति वस्तुतः त्याग, शील, विनय की दात्री है। वस्तुतः राम का चारित्र त्याग, शील, विनय प्रेम का ही संदेश देता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं— ''लोकमर्यादा पालन की ओर जनता का ध्यान दिखाने के साथ ही गोस्वामी जी के अन्तः करण की सामान्य से अधिक उच्चता संपादन के लिए शीलोत्कर्ष की साधना का जो अभ्यास मार्ग मानव हृदय के बीच से निकाला, वह अत्यन्त आलोकपूर्ण और आकर्षक हैं। शील के असामान्य उत्कर्ष को प्रेम और भक्ति का आलम्बन स्थिर करके उन्होंने सदाचार और भक्ति को अन्योन्याश्रित करके दिखा दिया। उन्होंने राम के शील का ऐसा विषद और मर्मस्पर्शी चित्रण किया कि मनुष्य का हृदय उसकी ओर आप से आप आकर्षित हो। ऐसे शील स्वरूप को देखकर भी जिनका हृदय द्रवीभूत न हो, उसे गोस्वमी जी जड़ समझते हैं।[1] वे कहते हैं—

---

1 गोस्वामी तुलसीदास पृ० 33।

सुनि सीता पति सील सुभाऊ।

मोद न मन, तन, पुलक, नयन जल सो नर खेहर खाउ॥

सिसुपन ते पितु मातु बंधु गुरू सेवक सचिव सखाउ।

कहत राम विधुवदन रिसौहैं सपनेहु लखेउ न काउ॥

खेलत संग अनुज बालक नित जुगवत अनट अपाउ।

जीति हारि चुचुकारि दुलारत देत दिवावत दाइ॥

सिला साप संताप विगत भइ परसत पावन पाउ।

दई सुगति सो न हेरि हरष हिय, चरन छुए को पछिताऊ॥

भवधनु भंजि निदरि भूपति भृगुनाथ खाइ गए ताउ।

छमि अपराध छमाइ पायँ परि इतो न अनत समाउ॥

कह्यो राज बन दियो नारि बस गरि गलानि गयो राउ।

ता कुमातु को मन जोगवत ज्यों निज तनु मरम कुघाउ॥

कपि सेवा बस भए कनौड़े, कहयौ पवन सुत साउ।

दैवै को न कछू ऋनिया हौ, धनिक तू पत्र लिखाउ॥

अपनाए सुग्रीव विभीषन तिन न तज्यो छल छाउ।

भरत सभा सनमानि सराहत होत न हृदय अघाउ॥

निज करुना करतूति भगत पर चपत चलत चरचाउ।

सकृत प्रनाम सुनत जस बसत सुनत कहत 'फिरि गाउ॥

(विनय पत्रिका)

इस दया, इस क्षमा, इस संकोच भाव, इस कृतज्ञता, इस विनय, इस सरलता को राम जैसे सर्वशक्ति सम्पन्न के आश्रय में जो लोकोत्तर चमत्कार प्राप्त हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। शील और शक्ति के इस संयोग में मनुष्य ईश्वर के लोकपालक रूप का दर्शन करके गद्गद् हो जाता है।[1]

रावण तुलसी के सारे मूल्यों के विरोध का प्रतीक है। रावण जितना शाक्तिशाली है उतना ही अन्यायी। उतना ही अहंकारी, परद्वेषी और परपीड़क है। एक तरफ मेघनाथ, कुंभकरण जैसे शक्ति सम्पन्न वीर है तो राम की तरफ बन्दर-भालुओं का समावेश-जो राक्षस की तुलना में कम शक्तिशाली है। रावण उस अन्याय का प्रतीक है जो संमंती व्यवस्था में जन सामान्य को कुचल कर रख देता है। लेकिन राम मनुष्यता के प्रतीक है, जन साधारण के प्रतीक है। राम चरित मानस में प्रसंग आया है कि राम और रावण ने बीच युद्ध चल रहा है। रावण की शक्ति को देखकर विभीषण भयभीत हो जाता है। विभीषण में यह स्वार्थ की भावना रही होगी कि यदि राम की जीत नहीं हुई तोगद्दी मुझे प्राप्त नहीं होगी। मध्यकालीन जन मानस में सामंत समाज के प्रति इतना डर व्याप्त था कि वह उसके खिलाफ लड़ाई तो क्या लड़ने के बारे में सोच भी नहीं सकते थे। विभीषण राम के भक्त थे और एक भक्त के मन में, जो खल-प्रपञ्च से दूर रहता है, इस तरह का भय स्वभाविक है कि साधन सम्पन्न रावण के खिलाफ साधन विहिन राम की विजय कैसे होगी? इसी उहापोह में उसका डर बोल उठता है कि—

''रावण रथी विरथ रघुवीरा

देखि विभीषण भयउ अधिरा।''

1 गोस्वामी तुलसीदास - आ० रामचन्द्र शुक्ल पृ० 33।

अर्थात् रावण रथ पर है, साधन सम्पन्न है, सुसज्जित है, लेकिन राम बिना रथ के साधन हीन हैं। यही चिन्ता विभीषण को सता रही है। उसके चिन्ता को राम समझ लेते हैं और कहते हैं—

सौरज, धीरज तेही रथ चाका।

सत्य शील दृढ़ ध्वजा पताका॥

बल विवेक दम परहित घोरे।

क्षमा कृपा समता रजु जोड़े॥

अर्थात् शौर्य, धैर्य दोनो रथ के दो पहिए हैं, तथा सत्य, शील, नियम आदि रथ की ध्वजा पताका है। बल, विवेक के आधार पर दूसरों की सेवा करना ही, उस रथ के घोड़े हैं। जो उसे क्षमा, कृपा तथा समता रूपी रस्सी से जोड़ रखा है। अत: ऐसे रथ पर सवार 'ईश भजन सारथी सुजाना'' पुरुष को कोई भी हरा नहीं सकता। राम का विभीषण के लिए यह वचन निश्चय ही एक ऐसे मार्ग का निर्माण करताहै, जिसमें शौर्य, धैय, सत्य, शील, विनय, दृढ़ता, पराक्रम, विवेक आदि के सहारे परहित की सेवा में लगा हुआ मनुष्य कठिन से कठिन लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। यह संदेश तत्कालीन समाज में साधारण जन के लिए चेतना का संचार करता है। वास्तव में यहाँ 'राम' जनवादी मूल्यों को स्थापित करते हुए प्रतीत होते हैं। तुलसी ने 'राम' के माध्यम से एक ऐसे 'राज्य' की कल्पना की है जिसमें संसार के सभी प्राणी लोक व्यवहार में रत रहते हुए सुख की अनुभूति कर सके।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने राम को कल्प पुरुष माना है अर्थात् वे अनादि तथा अनन्त हैं। लेकिन 'तुलसी के राम मात्र कल्प पुरुष नही हैं, वे सृष्ट पुरुष भी है। वे लीलाकारी हैं। विपत्ति पड़ने पर वे रोते भी है, उन्हें क्रोध भी आता है, वे मुस्काते हैं, विरह

में विलाप करते हैं, शत्रु के घर में रहकर आई हुई पत्नी के प्रति 'कछुक दुर्बाद' भी कहते हैं, भाई के घायल और मूर्च्छित होने पर ऐसी करुणा उक्तियाँ भी बोलते है[1]—

मम हित लागी पितु माता। सहेहु बिपिन हिम आतप बाता॥

सो अनुराग कहाँ अब भाई। उठहु न सुनि मम बच विकलाई॥

जौ जनतेउं वन बंधु विछोहू। पिता वचन मनतेउँ नहि ओहूँ॥

सुत विन नारि भवन परिवार। होहिं जाहिं जग बारहिं बारा॥

अस विचारी जिअं जागहूँ ताता। मिलइ न जगत सहोदर भ्राता॥

जथा पंख विनु खग अति दीना। मनि बिनु फनि करिबर कर हीना॥

अस मम जिवन बंधु विन तोही। जौ जड़ दैव जिआवै मोही॥

जैहों अवध कवन मुह लाई। नारि हेतु प्रिय भाइ गँवाई॥

बरु अपजसु सहतेऊँ जग माही। नारि हानि विसेष छति नाहीं॥

अब अपलोकु सोकु सुत तोरा। सहिसि निठुर कठोर उर मोरा॥

निज जननी के एक कुमारा । तात तासु तुम्ह प्रान अधारा॥

सौपेसि मोहि तुम्हहिं गहि पानी। सब विधि सुखद परम हित जानी॥

उतरु काह दैहो तिहि जाई। उठि किन मोहि सिखा वहु भाई॥

(रामचरित मानस लंका काण्ड)

---

1 लोकवादी तुलसी – विश्वनाथ त्रिपाठी पृ० 32।

राम का विलाप, उनकी शोकाकुल मनोदशा एक सामान्य जन की मनोदशा की भांति है। जन साधारण जब राम को इस प्रकार विलखते देखता हैं 'प्रभु प्रलाप सुनि कान विकल भए बानर निकर' तो समस्त बानर, भालू समुदाय के साथ वह भी शोकाकुल हो जाता है। यहाँ राम जन-जन के हृदय मे वास करने लगते हैं और जनसाधारण वर्ग अपने दु:ख के साथ राम के दु:ख को भी जोडता है। लेकिन तुलसी ने यह भी संकेत किया है कि भवगान की यह लीला है । अत: जो विनय, शील, प्रेम के साथ 'राम' की भक्ति करता है वह परम गति को प्राप्त करता है क्योंकि विनय शील, प्रेम आदि तत्व ही लोकधर्म के विधायक तत्व हैं।

राम व्यक्ति चरित्र न होकर समाज नायक, लोकनायक है, जिनके माध्यम से तुलसी किन्हीं सामाजिक मूल्यों का प्रक्षेपण करना चाहते है और यह प्रक्रिया अनेक आयामी है। तुलसी अपने समय का साक्षात्कार करते हैं और मध्यकालीन सामाजिक यथार्थ को सामने लाने के लिए विवश हैं। जिसे कलिकाल वर्णन कहा जाता है और जिसका संकेत भागवतकार ने भी किया है, वह वास्तव में भारतीय मध्यकाल का भयावह यथार्थ है जिसे तुलसी ने एक से अधिक बार कहा है। मानस के उत्तर काण्ड मे कलियुग का विस्तार से वर्णन है, वह मध्यकालीन सामंती समाज का संकेत है—अपने समय का भय वह यथार्थ। समाज की स्थिति: अधर्म अहंकार, धनमदमत्त, वाचाल, उग्रबुद्धि, दंभी, मोहबद्ध, लोभी, आचारहीन व्यवस्था हर दृष्टि से मूल्यहीनता। मानस के अतिरिक्त कवितावली, विनयपत्रिका, हनुमान बाहुक में भी इसकी चर्चा है। मध्यकालीन यथार्थ का प्रमाण यह है कि यहाँ अकाल, दुर्भिक्ष का भी संकेत : 'कलि बारहि बार दुकाल परे। विनु अन्न दुखी सब लोग मरें।' इतिहास इसकी पुष्टि करता है।[1]

---

1 भक्तिकाव्य का समाज शास्त्र, तुलसी के राम और मूल्यो का प्रश्न डा० प्रेमशंकर पृ० 115।

'तुलसी दास' में लिखते समय सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने भी लिखा है: भारत के नभ का प्रभापूर्ण, शीतलोच्छाय सांस्कृतिक सूर्य ! अर्थात् भारत के सांस्कृतिक सूर्य का प्रकाश मुसलमानों के प्रभाव के कारण क्षीण होता जा रहा था। ऐसे समाज में तुलसी ने टूटते-बिखरते मूल्यों को यथार्थ की पीठिका पर प्रस्तुत करके उन्हें प्रमाणिकता दी। मध्यकालीन समाज का यथार्थ चित्रण: 'कृसगात ललात जो रोटिन को, घरबार, धरे खुरपा खरिया। अतः गोस्वामी तुलसीदास ने ढहते जीवन मूल्यों के बीच 'रामराज्य' की कल्पना की, जो जनवादी साहित्य को रेखांकित करता है। ''तुलसी का 'राम राज्य' तुलसी के भाववादी मस्तिष्क की, वहॉ ईति, भीति, दुखित प्रजा की कल्पना है, ऐसी कल्पना जो उनके समसामयिक समाज के दुखः, द्वन्द्व, विषमता, त्रिविध ताप से मुक्त है-वहॉ ईति, भीति, दुखित प्रजा ग्रहो की मार नहीं है। देश सुखी हैं, वहाँ सुराज है। राम के राज्य में सम्पत्ति शोभित है। प्रजा सुराज पाकर सुखी है—[1]

ईति भीति जनु प्रजा दुखारी। त्रिविध ताप पीड़ित ग्रह मारी।।

जाइ सुराज सुदेस सुखारी। होहिं भरत गति तेहि अनुहारी।।

राम वास वन संपत्ति भ्राजा। सुखी प्रजा जनु पाइ सुराजा।।

(रामचरित मानस)

तुलसी ने अपने राम को एक नयी अर्थदीप्ति दी और रामकथा को संदर्भवान बनाया। राम का जनतांत्रिक व्यक्तित्व है तभी तो वह कोलकिरात, वानर, भालू को गले लगाते हैं और समाज में उपेक्षित समुदाय शुद्र अर्थात् केवट को अपना सखा मानकर अपने बगल में बराबर के स्तर पर बैठाते है— यहाँ तुलसी द्वारा राम के चरित्र में लोकतात्रिक दृष्टि का

---

1 लोकवादी तुलसीदास, कलियुग और राम-राज्य विश्वनाथ त्रिपाठी पृ० ९९।

समावेश निश्चय ही कवि के लोकवादी दृष्टि को संकेतित करता है और जनवादी चेतना की स्थापना करता है।

राम का व्यक्तित्व संघर्ष से गुजरता है— किशोरावस्था में ही विश्वामित्र के आश्रम में राक्षसों से संघर्ष, वनों में खल चरित्रों से संघर्ष और धर्म तथा स्त्री जाति के रक्षार्थ अधर्मरत रावण से संघर्ष, एक कर्म के पथ पर अग्रसर समस्त द्वन्द्वों का सामना मानव-मूल्य के स्तर पर करते हैं, जिसमें लोकहित की भावना सन्निहित है। कर्म का संदेश तत्कालीन समाज की आवश्यकता थी तभी तो तमाम सेविकाओं के रहते हुए भी सीता घर का काम अपने हाथों करती है—

जद्यपि गृहँ सेवक सेवकिनी। विपुल सदा सेवा बिधि गुनी।

निज कर गृह परिचरचा करई। रामचन्द्र आयसु अनुसरई।।

अस्तु राम व्यक्ति -केन्द्रित सामंती व्यवस्था का निषेध करते हैं। तत्कालीन समाज तो दुख का दाता है रावण की भाँति उसको 'राम' के माध्यम से तुलसी दास सुख की भावभूमि पर प्रतिष्ठित करते हैं। तुलसी ने राम के सामाजिक मूल्यों को केन्द्र में रखकर जिस राम राज्य की कल्पना की. वह सबसे अधिक विचारणीय है। इसपर विचार करते हुए डॉ० प्रेमशंकर लिखते हैं : ''कलिकाल यदि मध्यकालीन यथार्थ है तो रामराज्य तुलसी जैसे जनकवि का दिवास्वप्न, उनका 'विजन'। इसे कल्पित आदर्श राज्य 'यूटोपिया' कहा जा सकता है, पर किसी महान कवि की विशेषता ही यह कि वह वहीं नहीं रुक, ठहर जाता जहाँ कि जैसा संसार है। यथार्थ के प्रक्षेपण में वह अपने दायित्व की समाप्ति नहीं मान लेता, वह यह कल्पना भी करता है कि बेहतर संसार कैसा हो, कविता संसार को पूरी तरह भले ही न बदल पाये क्योंकि उसके हथियार सीमित हैं, पर कविता का विराट 'विजन' यह तो बताता ही है कि संसार होना कैसा चाहिए। रामराज्य के समाज का वर्णन है: सब हर्षित बैर-शोक-विषमता-भय-शोक-रोम रहित। दैहिक, दैविक, भौतिक तापा। राम राज्य नहि,

बैर- शापा। अथवा नहि दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना। धर्मरथ की तरह रामराज्य के कई उपादान अतिरिक्त आदर्शवादी हो सकते हैं क्योंकि कवि और उसके काव्य नायक के दिवास्वप्न से संबद्ध हैं, पर वे उच्चतर मानवमूल्यों की रेखाओं से सम्पन्न हैं। तुलसी का राम राज्य नया सामाजिक रुपान्तरण है। राम के सामाजिक मूल्यों में नैतिकता, आदर्श, आध्यात्मिकता के गहरे दबाव हैं। कई बार कल्पित भी, पर वे वायवी नहीं है, यथार्थ के भूमि पर संस्थित है।'[1]

उपरोक्त कथन यह रेखांकित करता है कि जिन विद्वानों का यह विचार है कि भक्ति आंदोलन के प्रारम्भ में जिस निर्गुण ब्रह्म के माध्यम से संत काव्य धारा के अन्तर्गत निम्न से निम्नवत् जातियों के बीच से संतों का अभ्युदय हुआ था, राम कथा या रामभक्तिधारा तक आते-आते अभिजात्य वर्ग ने इसे अपने में मिला लिया और वर्णव्यस्था का आधार पुनः प्रस्तुत किया— वे इस बात पर भी विचार करें कि रामभक्ति धारा के माध्यम से जिस लोक चेतना या यथार्थ का चित्रण, जिसमें मानव मूल्य के चिन्ता का प्रश्न समाहित है— लोक धरातल पर व्यवहृत तथा स्थापित किया गया है। राम मात्र राजकुमार नहीं रह जाते वे जन सामान्य के बीच जनसाधारण मे प्रचलित सुख:दुख, आचार-विचार से परिचालित अपना जीवन यापन करते है और एक ऐसी व्यवस्था देने का प्रयत्न करते हैं, जिसमें समाज का प्रत्येक वर्ग रोग-शोक-कष्ट से रहित अपने नैतिक परक जीवन का निर्वहन बिना भय से कर सके। जनवादी मूल्य राम के प्रत्येक कर्म में समाहित है, जो अपने समाज को दिशा देने में सक्षम हैं।

इस प्रकार समाज व्यवहृत यथार्थ के धरातल पर गोस्वामी तुलसी दास ने रामभक्ति को सर्वोपरि माना । ''ज्ञान पुरुष अर्थात् चैतन्य है और भक्ति सत्वस्थ प्रकृति स्वरूप है।

---

1 भक्ति का समाजशास्त्र, तुलसी के राम और मूल्यों का प्रश्न पृ० 119-120।

दूसरे शब्दों में कहें तो 'ज्ञान' बोधवृत्ति और भक्ति रागात्मिका वृत्ति है।[1] इसी 'भक्ति' का सहारा लेकर तुलसी ने तत्कालीन समाज में सगुण-निर्गुण, शैव-शाक्त सभी में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न भी किया—

(क) अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ, अगाध, अनादि अनूपा॥

(ख) शिव द्रोही मम दास कहावे। सो नर सपनेहूँ मोहि नहीं भावे॥

(राम चरित मानस)

'सोऽहमास्मि' और 'तत्वमसि' जैसे अद्वैत वाक्यों का भी कहीं-कही समर्थनकिया—

ईश्वर अंस जीव अविनासी। चेतन, अमल, सहज, सुखरासी॥

सो मायावस भयउ गोसाई। बधेऊ कीर मरकर की नाई॥

अत: वेद-विहित उन समस्त मान्यताओं का समर्थन गोस्वामी जी करते हुए राम की भक्ति को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं तथा 'राम राज्य' की अवधारणा को आदर्श।

इस प्रकार 'ग्यानपंथ कृपान कै धारा।' घोषित करते हुए गोस्वामी जी ने 'सेवक सेव्य भाव विनु भवन तरिय, डरगारि।'' जैसी भावना का समर्थन भी करते हैं। नाम स्मरण 'राम' के महत्व को स्थापित करते हुए उन्होंने समाज में प्रगतिशील तत्वों को उद्‌घटित किया तथा युग बोध का ज्ञान रखते हुए - समाज के उन मूल्यों की पहचान की, जो यर्थाथ के धरातल पर मनुष्यता की स्थापना कर सके।

डॉ० बेबर ने राम कथा के माध्यम से दक्षिण की ओर आर्य सभ्यता और कृषि का प्रसार दिखाया है तो ह्वीलर नामक विद्वान ने रामकथा को ब्राह्मण और बौद्ध धर्म के संघर्ष के

---

1 गोस्वामी तुलसीदास- आचार्य शुक्ल पृ० 40।

प्रतीक के रूप में देखा है। 'राम' के ईश्वरत्व का बोध जैन कवि बनारसीदास के 'घट रामाय' में दृष्टव्य है—

विराजै रामायन घट माहिं।

मरमी होय मरम सो जानै, मूरख मानै नाहिं॥ विराजै० ॥ 1 ॥

आतम 'राम' ज्ञान गुन 'लछिमन', सीता सुमति समेत।

सुभ प्रयोग 'बानरदल' मंडित बर बिवेक 'रनखेत' ॥ विराजै० ॥ 2 ॥

ध्यान 'धनुष टंकार' सोर सुनि गई विषयदिति भाग।

भई भसम मिथ्यातम 'लंका' उठी धारना आग ॥ विराजै० ॥ 3 ॥

जरे अज्ञान भाव 'राक्षस कुल' लरे निकांछित सूर।

जूझे राग द्वेष सेनापति संसै, 'गढ़' चकचूर॥ विराजै० ॥ 4 ॥

विलखत 'कुंभ करन' 'भवविभ्रम पुलकित मन दरयाव।

थकित उदारबीर 'महिरावन' सेतुबंध समभाव ॥ बिराजै ॥ 5 ॥

मूर्छित 'मंदोदरी' दुरासा सजग चरन 'हनुमान'।

घटी चतुर्गति परनति, 'सेना' छुटे छपकगुन 'बान॥ बिराजै ॥ 6 ॥

निरखि सकति गुन 'चक्र सुदर्सन' उदय 'बिभीषन' दीन।

फिरै कबंध मही 'रावण' की प्रान भाव सिरहीन॥ विराजै ॥ 7 ॥

इहि विधि सकल साधु घट अंतर होय सकल संग्राम।

यह बिवहार दृष्टि 'रामायन' केवल निस्चय राम॥ बिराजै ॥ 8 ॥

(बनारसी बिलास पृष्ठ 123 ॥)

अर्थात् आत्मा ही राम हैं । विवेक रुपी लक्ष्मण और सुमति रुपी सीता उसके साथी हैं। शुद्ध भावरूपी वानरों की सहायता से वह रणक्षेत्र में उतरता है। ध्यान रुपी धनुष की टंकार से विषय वासनाएँ भाग जाती हैं। जिससे अज्ञान रुपी राक्षस का कुल नाश होता है। रागद्वेष रूपी सेनापति युद्ध में मारे जाते हैं, संशय का गढ़ टूट जाने पर कुंभकरण रुपी भव बिलखने लगता है। सेतुबंध रुपी संभाव के पश्चात् रावण भी नष्ट हो जाता है, जिससे मदोदरी रुपी दुराशा मूर्छित हो जाती है। चक्र सुदर्शन की शक्ति को देखकर विभीषण का उदय होता है। रावण का कबंध प्राण हीन होकर भूमि पर लुढ़कने लगता है। प्रत्येक साधु पुरुष के शरीर में निरन्तर यह सहज संग्राम होता रहता है।[1]

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि राम कथा में रुपक तत्वों के माध्यम से जीवन के विषयाशक्तियों को दूर कर शुद्ध आत्म तत्व की पहचान कराई गई। गोस्वामी तुलसीदास ने राम कथा के माध्यम से जिस एकान्तिक भक्ति का प्रचार प्रसार किया उसमें भारत की समस्त जनता, जैसा कि उन्होंने कहा है कि 'भलि भारत भूमि भलें कुल जन्मु, समाज सरीरु भलो लहिकैं''—एक ऐसी भावना की अनुभूति करती है जो सात्विकता के धरातल पर प्रतिष्ठित है।

मोह (रावण) के राज्य में जीव (विभीषण) रहते-रहते मिथ्या सुखों को ही सच्चा सुख मानने लगता है और अपने उद्धार का प्रयत्न नहीं करता, किन्तु जब जीव की आशाओं पर कुठाराघात (रावण द्वारा चरण प्रहार) होता है, तब उसे ईश्वर की याद सताती है। मोह (रावण) की संगति से जीव (विभीषण) में यह संशय भी उत्पन्न हो जाता है कि राम उसे शरण मे लेंगे या नही ? तब वैराग्य सम्पन्न संत (हनुमान) के द्वारा उसके विवेक के नेत्र खुलते हैं, संशय का विनाश होता है। विभीषण (जीव) कहता है—

---

1 मध्यकालीन काव्य साधना, रामकथा मे रूपक तत्व डॉ० वासुदेव सिंह पृ० 1941।

अर्थात् आत्मा ही राम है । विवेक रुपी लक्ष्मण और सुमति रुपी सीता उसके साथी हैं। शुद्ध भावरूपी वानरों की सहायता से वह रणक्षेत्र में उतरता है। ध्यान रुपी धनुष की टंकार से विषय वासनाएँ भाग जाती हैं। जिससे अज्ञान रुपी राक्षस का कुल नाश होता है। रागद्वेष रूपी सेनापति युद्ध में मारे जाते हैं, संशय का गढ़ टूट जाने पर कुंभकरण रुपी भव बिलखने लगता है। सेतुबंध रुपी संभाव के पश्चात् रावण भी नष्ट हो जाता है, जिससे मंदोदरी रुपी दुराशा मूर्छित हो जाती है। चक्र सुदर्शन की शक्ति को देखकर विभीषण का उदय होता है। रावण का कबंध प्राण हीन होकर भूमि पर लुढ़कने लगता है। प्रत्येक साधु पुरुष के शरीर में निरन्तर यह सहज संग्राम होता रहता है।[1]

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि राम कथा में रुपक तत्वो के माध्यम से जीवन के विषयाशक्तियों को दूर कर शुद्ध आत्म तत्व की पहचान कराई गई। गोस्वामी तुलसीदास ने राम कथा के माध्यम से जिस एकान्तिक भक्ति का प्रचार प्रसार किया उसमे भारत की समस्त जनता, जैसा कि उन्होंने कहा है कि 'भलि भारत भूमि भलें कुल जन्मु, समाज सरीरु भलो लहिकैं''—एक ऐसी भावना की अनुभूति करती है जो सात्विकता के धरातल पर प्रतिष्ठित है।

मोह (रावण) के राज्य में जीव (विभीषण) रहते-रहते मिथ्या सुखों को ही सच्चा सुख मानने लगता है और अपने उद्धार का प्रयत्न नहीं करता, किन्तु जब जीव की आशाओं पर कुठाराघात (रावण द्वारा चरण प्रहार) होता है, तब उसे ईश्वर की याद सताती है। मोह (रावण) की संगति से जीव (विभीषण) में यह संशय भी उत्पन्न हो जाता है कि राम उसे शरण में लेंगे या नहीं ? तब वैराग्य सम्पन्न संत (हनुमान) के द्वारा उसके विवेक के नेत्र खुलते हैं, संशय का विनाश होता है। विभीषण (जीव) कहता है—

---

1 मध्यकालीन काव्य साधना, रामकथा में रूपक तत्व डॉ० वासुदेव सिंह पृ० 1941।

तात कबहुँ मोहि जानी अनाथा। करिहहिं कृपा भानुकुलनाथा।।

तामस तनु कछु साधन नाहीं। प्रीति न पद सरोज मन माहीं।।[1]

इस पर हनुमान समझाते हैं—

सुनहु विभीषन प्रभु कइ रीती। करहि सदा सेवक पर प्रीती।[2]

अतः राम का द्वार जीव के लिए सदैव खुला हुआ है। उसकी कृपा भक्त पर सदैव बनी रहती है। गोस्वामी जी ने राम की अनन्य भक्ति का मार्ग समाज मे माया तथा जीव के बीच संघर्ष को समाप्त करने के लिए सुझाया और तत्कालीन समाज जो रावण जैसे अहंकारी शासकों के अधीन था, रामरूपी भक्ति के माध्यम से ही, उनके गुणों को अंगीकृत करने से ही जन साधारण एक सम्मानजनक स्थिति को प्राप्त कर सकता था।

अस्तु दैहिक, दैविक, भौतिक, तापों से रहित शस्य सम्पन्न धरती की जो कल्पना तुलसी ने की थी, वह निश्चय ही जन साधारण की आंकाक्षाओं, अभिलाषाओ को लिए-दिए उनके आध्यात्मिक तृषा को शांत करने वाली थी। राम भक्ति धारा के अन्य कवियों में स्वामी अग्रदास, नाभादास जी, प्राणचंद चौहान, हृदय राम आदि भक्तों ने राम के सगुण रूप की उपासना पर बल दिया, लेकिन जिन नैतिक मूल्यों की स्थापना गोस्वामी तुलसीदास ने अपने काव्य में किया, उन मूल्यों को ये कवि स्थापित नहीं कर सके। हृदय राम ने इस शाखा को कुछ हद तक विकृत भी किया। गोस्वामी तुलसीदास के काव्य में ही हमें प्रगतिशील साहित्य का बोध होता है, जो अपने समाज का वास्तविक प्रतिबिम्ब पाठक के सामने उपस्थित कर देता है।

---

1 रामचरितमानस 5/7/2-3।

2 वही 5/7/6।

डॉ० रमेश कुन्तल मेघ ने बड़े ही उत्कृष्ट स्तर पर तुलमी के काव्य का मूल्यांकन प्रगतिशील आधार पर किया है। मध्ययुग के समुचे परिदृष्य मे गोस्वामी जी को रखकर उन्होंने देखा तथा परखा है। उनकी यह टिप्पणी— "जब वे समाज के पूरे रंगमंच को देखते-देखते तथा भोगते-भोगते यथार्थवादी एवं व्यवहारिक भी हो जाते हैं (दोहावली, कवितावली, हनुमानबाहुक) तब वे कलि-काल की गर्दन मरोड देते हैं। अपने जीवन के परवर्ती चरण में तुलसी आध्यात्मिक और स्वप्नद्रष्टा के बजाय धार्मिक और यथार्थ द्रष्टा हुआ है। उन्होंने अन्ततः घोषित ही किया कि सारे समाज तत्र का आधार पेट अर्थात् आर्थिक शक्ति है। (कवितावली)। यह उनके समाज-दर्शन की महत्तम सिद्धि है, जो उन्हें कबीर से बहुत आगे ले जा सकती है। आर्थिक दरिद्रता को इतना भोगने समझने वाला मनुष्य, दरिद्रता के सामाजिक परिणामो को इतना सटीक विश्लेषित करने वाला समाज पुरुष और दरिद्रता से इतनी प्रगाढ़ नफरत करने वाला लोककवि तुलसी के अलावा सारे मुस्लिम मध्यकाल में दूजा नहीं है।"[1]

यहॉ डॉ० मेघ ने "मूल्यांकन की मार्क्सवादी दृष्टि को सही अर्थो में पहचाना है।" उन्होंने गोस्वामी जी के मन तथा उनकी रचना के उन पहलुओं को भी उभारा है जहाँ वे लोक से, उसके सुख-दुख से, साधारण जन की आशा-आकांक्षाओं से, एक प्राण तथा एक मन होते हैं, अन्याय की धज्जियाँ उड़ाते है, पाखंडियों का पर्दाफाश करते हैं,.......... .और सीधे लोकचित्त में उतरकर उसे प्रतिबिम्बित करते हैं।[2]

उपरोक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि रामभक्ति धारा के अन्तर्गत गोस्वामी तुलसी दास के रचनाओं में जनवादी चेतना को गति-प्रदान करने की शक्ति निहित है। तुलसी ने राम की भक्ति के माध्यम से, उनके चरित्रों के माध्यम से, साधारण जन को एक

---

1 तुलसी · आधुनिक वातायन से डॉ० रमेश कुन्तल मेघ।

2 भक्ति आदोलन और भक्ति काव्य डॉ० शिवकुमार मिश्र पृ० 113।

ऐसा ब्रह्म (ईश्वर) प्रदान किया,जो उन्हें प्रत्येक कष्टों से मुक्ति दिलाता हुआ एक ऐसे समाज का आदर्श प्रस्तुत करता है— जिसमें किसी को किसी प्रकार का कष्ट नहीं हैं, सब बराबर हैं मार्क्सवाद भी इसी सिद्धान्त पर चलता है'', जनवादी साहित्य की विशेषता ही यही है कि कवि अपने काव्यों के माध्यम से ऐसा उदा० सामने रखे,जिसमें सामान्य जन अपने आप को प्रसन्न महसूस करे और एक ऐसे समाज का निर्माण कर सके, जो आदर्श राज्य हो 'राम-राज्य' की तरह।

अस्तु जनवादी मूल्यों के आधार पर रामचरितमानस इसी तरह की व्यवस्था स्थापित करता प्रतीत होता है—जिसमें करोड़ों - करोड़ो भारतीय समुदाय अपने सुख-दुःख की अनुभूति करता हुआ संतोष की सांस लेता है,अपनी आंकाक्षाओं को शक्ति देता है। गोस्वामी जी की लोकवादी भावनाओं और अनुभूतिओं पर प्रकाश डालते हुए डॉ० प्रेम शंकर मिश्र ने लिखा है : समग्रत: तुलसी लोकजीवन की मधुर-तिक्त अनुभूतियों के मुग्ध और सजग गायक हैं। लोक जीवन की नाना छवियों को उनकी रचनाओं में उनकी जीवंतता में देखा जा सकता है। वे अन्याय के सक्रिय प्रतिरोध की सलाह देने वाला और राम के रूप में उसका उदाहरण पेश करने वाले समाज-द्रष्टा हैं। वे आत्मसम्मान से दीप्त एक निर्भीक जन नायक हैं। अकबर के शासन काल में उसके राज्य से बढ़कर रामराज्य का आदर्श वही पेश कर सकते थे। वे जीवन की बहुरंगी - छवियों के, उसकी समग्रता के कवि हैं।[1] अत: जन सामान्य की समस्त भावनाओं की कद्र करने वाले और उनके सुख-दु:ख के साथ चलने वाले कवि तुलसी ने अपने साहित्य के माध्यम से तत्कालीन समाज के यथार्थवादी दृष्टि का जो खाका खींचा है वह सही अर्थो में प्रगतिशील चेतना की स्थापना करता है। जिसमें लोक-जन अपने को सुरक्षित पाता है।

------oo-------

---

1 भक्ति आंदोलन और भक्ति काव्य पृ० 122।

(ख) कृष्ण भक्ति धारा

कृष्ण का प्राचीनतम् उल्लेख ऋग्वेद (1/116/7, 1/116/23; 8/85/1-9; 8/86/1-5) में पाया जाता है। इन संदर्भो में कृष्ण एक स्तोता ऋषि हैं। परन्तु महाभारत के वीर राजनीतिज्ञ कृष्ण के इन प्राचीन संदर्भो में कोई समता नहीं मिलती।[1] छान्दोग्य उपनिषद् के घोर आंगिरस के शिष्य कृष्ण देवकी पुत्र कहे गये है।[2] हरिवंश, विष्णु भागवत, ब्रह्मवैवर्त आदि अनेक जैन पुराणों में कृष्ण की कथा का वर्णन प्राप्त होता है।

ऋग्वेद में कृष्ण का उल्लेख इंद्र के शत्रु के रुप में भी हुआ है। एक अन्य सूक्त में दक्षिण हाथ में वज्र धारण करने वाले इंद्र की स्तुति में कहा गया है कि उन्होंने राजा के साथ कृष्णासुर की गर्भवती स्त्रियों का वध किया।[3]

'कौशीतकी ब्राह्मण' में जो बुद्धदेव के पूर्व की रचना है।[4] कृष्ण आंगरिस का उल्लेख है। अत: कृष्ण के ऋषि होने, योद्धा होने आदि की परम्परा ऋग्वेद के मंत्रों से लेकर छांदोग्योपनिषद् तक विद्यामान है।

बौद्ध साहित्य में 'महा उमग्ग जातक' की टीका में एक स्थल पर वासुदेव कव्ह की विशेष प्रिया रानी जांबवंती का संकेत है; जिसका साक्ष्य हमें श्रीमद्‌भागवत आदि पुराणों में प्राप्त होता है। जैन परम्परा में कृष्ण अरिष्टनोमि या नेमिनाथ (22 वें तीर्थंकर जो 23 वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के निकट पूर्ववर्ती थे) के समकालीन बताए गये हैं चूंकि पार्श्वनाथ की

---

1 हिन्दी साहित्य कोश भाग एक पृ० 205।

2 3/17/4-6 (छान्दोग्य उपनिषद्)।

3 ब्रजेश्वर वर्मा, 'वासुदेवकृष्ण', हिन्दी अनुशीलन, वर्ष 7, अक 2 पृ० 5।

4 हेमचन्द्र राय चौधरी, 'मैटिरियल्स फार दी स्टडी आफ दी अर्ली आफ दि वैष्णव सेक्ट', कलकत्ता 1920, पृ०7।

स्थिति 817 ई० पू० में मानी जाती है इसलिए निश्चय ही कृष्ण 9वी शताब्दी ई० पू० के पूर्वार्द्ध में लोकप्रसिद्ध रहे होंगे।[1]

वैदिक परम्परा में जब रुढ़िवाद और याज्ञिक हिंसा आदि शास्त्रीय धर्म की अतिशयता के विरोध में सहज मानवीय धर्म के रूप में भागवत धर्म का उदय हुआ। यह भागवत धर्म पांचरात्र, एकांतिक, नारायण, वासुदेव, सात्वत धर्म आदि अनेक नामों से अभिहित किया गया है।[2] भागवत धर्म की पीठिका पर ही वैष्णव धर्म की विशाल परम्परा खड़ी हुई। इस समन्वयकारी धर्म की स्थापना में तीन सिद्धान्तो का विशेष योगदान माना गया—

(क) व्यूह सिद्दान्त

(ख) अवतारवाद

(ग) पुरुष-प्रकृति सिद्दान्त

हेमचन्द्र राय चौधरी ने यह स्पष्ट किया है कि वासुदेव पूजा का प्रारंभ पाणिनि के पहले ई० पू० 5वीं शताब्दी में हो गया था।[3] तैत्तिरीय आरण्यक के दशम् प्रपाठक में जो विष्णु गायत्री दी गई है उसमें नारायण, वासुदेव तथा विष्णु को एकत्र कर दिया गया है''—**नारायण विद्महे, वासुदेवाय धीमहि। तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्।**'' यहां वासुदेव विष्णु का एक नाम है।[4] अतः स्पष्ट होता है कि ई० पू० 3 सरी सदी तक विष्णु और वासुदेव का

---

1 भक्ति आन्दोलन और सूरदास काकाव्य मैनेजर पाण्डेय, पृ० 56।

2 वही पृ० 56।

3 वही, पूर्वोद्धृत, पृ० 18।

4 भक्ति आदोलन और सूरदास का काव्य, मैनेजर पाण्डेय पृ० 57।

एकाकार हो चुका था। गीता में वासुदेव वृष्णिवंशोद्भूत कहे गए हैं—**'वृष्णीनां वासुदेवों स्मि।' वृष्णिवंश** का उल्लेख पाणिनि की अष्टाध्यायी और कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अतिरिक्त तैतिरीय संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण और जैमिनिय उपनिषद् में भी हुआ है।[1]

अत: वासुदेव कृष्ण की प्राचीनता वृष्णिवंश से मानी जा सकती है। 'सात्वत वृष्टि जाति का ही दूसरा नाम है जिसके वासुदेव संकर्षण, अनिरुद्ध आदि सदस्य थे और उन सात्वतों का अपना धर्म था, जिसमें वासुदेव सर्वोच्च सत्ता के रूप में पूजित थे।[2]

ई० पू० दूसरी शताब्दी के वैसनगर (ग्वालियर) के शिलालेख में ग्रीक राजा एंटियाल्किडस के राज दूत हिलियोडोरा द्वारा वासुदेव के गरुड़-ध्वज की स्थापना से यह ज्ञात होता है कि मौर्य काल तक आते-आते वासुदेव कृष्ण की पूजा विष्णु के अवतार के रूप में होने लगी थी।

इस प्रकार भारतीय वाङ्मय के अनेक स्रोतों से यह स्पष्ट होता है कि कृष्ण एक ऐसे देवता के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे-जिनमें मानवतावादी दृष्टि समाहित थी। महाभारत जो व्यास कृत 'महाकाव्य' है, में भी कृष्ण कथा के अनेक तत्व उपलब्ध हैं। महाभारत के अश्वमेघ पर्व के अनुगीता मे कृष्ण के विराट रूप को वैष्णव रुप कहा गया है। महाभारत के शांतिपूर्ण में युधिष्ठिर की कृष्ण-स्तुति में विष्णु और कृष्ण का ऐक्य व्यंजित है। अत: महाभारत में कृष्ण के अनेक रूपों की स्थापना की गई है।

कृष्ण के लीला रुप का वर्णन 'गोपाल' के रूप में ऋग्वेद के कुछ एक प्रसगों में देखा जा सकता है। ''ऋग्वेद में विष्णु को 'गोपा' कहा गया है। विष्णु के स्थान पर

---

1 हेमचन्द्र राय चौधरी, पूर्वोद्धृत पृ० 19।

2 आर० जी० भण्डारकर कलेक्टेड वर्क्स भाग 4 पूना, 1929 पृ० 12।

बहुश्रृंगा, तीव्र गतिवाली गायों का निवास बताया गया है। गोपा विष्णु के साथ गायों के संबंध का प्रभाव विष्णु के ही अवतार माने जाने वाले पौराणिक गोपाल कृष्ण के लीला रूप के निर्माण पर अवश्य पड़ा होगा।. . ..कालिदास के मेघदूत के 'गोप वेषस्य विष्णों: (पूर्वमेघ, 15) कथन से ऐसा लगता है कि कालिदास के समय में विष्णु का गोपाल रुप जन सामान्य मे प्रचलित था।[1]

ऐसा साक्ष्य प्राप्त होता है कि ऋग्वेद के अनेक मंत्रों में कृष्ण की ब्रजलीला से संबंधित सभी नामों का उल्लेख है। उसमें राधा, गौ, ब्रज, गोपी, कालीनाग, वृषभानु, रोहिणी, कृष्ण और अर्जुन आदि प्रमुख हैं यह ठीक है कि इन सभी शब्दों का ऋग्वेद में वही अर्थ नहीं हो, जो कृष्ण की ब्रजलीला में हैं।[2] कृष्ण ने गीता मे अपने को आदित्यों मे विष्णु कहा है। 'कृष्ण को विष्णु का अवतार मानने के कारण बार्थ आदि विद्वानों ने कृष्ण को सौर देवता माना है।[3]

अस्तु ई० पू० प्रथम सदी के पूर्व से ही कृष्ण की बाल लीलाओं का लोक जीवन में प्रचार-प्रसार अवश्य रहा होगा। ई० पू० प्रथम शताब्दी के कवि अश्वघोष के 'बुद्धचरित' में कृष्ण के अलौकिक कृत्यों पर प्रकाश डाला गया है—

आचार्यकं योगविधौ द्विजानमप्राप्तमन्यैर्जनको जगाम।

ख्यातानि कर्माणि च यानि शौरं: शूरदभस्तेप्ववला वभूवु: ॥ 1 ।45॥

---

1 भक्तिआंदोलन और सूरदास का काव्य मैनेपर पाण्डेय पृ० 65।

2 आर०जी० भण्डारकर . कलेक्टेड वर्क्स, भाग 4, पूना 1929 पृ० 51।

3 हमेचन्द्र राय चौधरी, 'अर्ली हिस्ट्री आफ दि वैष्णव सेक्ट, पृ० 24।

महाकवि कालिदास के 'मेघदूत' और 'रघुवंश' में वर्णित विष्णु और गोपाल कृष्ण को अलग करके नहीं देखा जा सकता- **बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णो : (पूर्वमेघ, 15) तथा सकौस्तुभं हेप्यतीव कृष्णम् (रघुवंशम् 649)।**

प्राकृत रचनाओं में भी राधा-कृष्ण की लीलाओं का सकेत मिलता है।[1] पुराणों में प्राचीन और मध्यकालीन हिन्दू धर्म और भारत की धार्मिक, दार्शनिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक और सामाजिक जीवन की विभिन्न स्थितियो का विशद चित्रण है। मानव सभ्यता के सामाजिक जीवन में प्रवेश काल की सम्पूर्ण सामाजिक स्थिति और व्यक्ति की मन: स्थिति मिथकीय चेतना से प्रभावित होती है। उस काल में मनुष्य प्रकृति के संसार मे जीता है। ऐसा लगता है कि दैवी शक्तियों के संकेत से ही प्रकृति, समाज और व्यक्तियों का जीवनक्रम तथा घटनाएं निर्धारित होती हैं... ... ... .पुराणों में मनुष्य का मानस लोक भी उद्‌भाषित हुआ है और उसके सामाजिक - प्राकृतिक परिवेश की भी अभिव्यक्ति हुई है।[2]

अत: पुराण जो हमारे धार्मिक चिन्तन परम्परा के विकास को उद्‌घाटित करता है, में कृष्ण कथा के अनेक सूत्र मिल जाते हैं, जिसमें कृष्ण के उन सभी रूपों का वर्णन प्राप्त होता है, जो मध्यकालीन कृष्ण भक्ति धारा के कवियों के साहित्य में समाहित है। अवतारवाद पौराणिक चिन्तन का प्रधान तत्व है। भागवत पुराण में भगवान के अवतार तीन प्रकार के बताए गये हैं — (1) पुरुषावतार (2) गुणावतार (3) लीलावतार।

इसके अतिरिक्त पुराणों में श्री विष्णु के दशावतारों का साक्ष्य मिलता है— इसमें मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिंह और वामन पुरावृत्यात्मक (मिथिलाजिकल) अवतार हैं, परशुराम, राम, कृष्ण, और बुद्ध, ऐतिहासिक अवतार है और कल्कि का अवतरण भविष्य

---

1 'गाथा सप्तसती'।

2 भक्ति आदोलन और सूरदास का काव्य, मैनेजर पाण्डेय, पृ० 68-69।

के गर्भ में है। दशावतार के सिद्धान्त में मानव सभ्यता के विकास की धारणा है। अवतार युग के संकल्प के प्रतीक हैं। वे युग की लोक-चेतना की संयुक्त विधायनी शक्ति के मूर्त रूप हैं।[1]

अस्तु पुराणों में श्रीमदभागवत् पुराण कृष्ण कथा का स्रोत और सम्पूर्ण मध्यकालीन कृष्णभक्ति साहित्य का मूलाधार ग्रंथ है। कृष्णभक्ति साहित्य के आचार्यो ने भागवत पुराण को — उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता (प्रस्थानत्रयी) के समकक्ष मानकर उसकी टीकाएं तथा व्याख्याएं की हैं, जिसमें वल्लभ सम्प्रदाय प्रमुख हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि कृष्ण भक्तिधारा मे कृष्ण के जिस रूप का चित्रण होता है उसमें उनका **प्रेममयी मानवीय रुप तथा ऐश्वर्यमयी दिव्य रुप** प्रमुख हैं। कृष्ण को विष्णु का अवतार मानकर उनके चरित्र में ईश्वरतत्व का बोध तथा त्राणकारी के रूप में उनका चित्रण कृष्णभक्ति धारा का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय रहा है जिसमें माध्यम बना है— कृष्ण का बचपन, रास-प्रसंग, मथुरागमन के संबंध, तथा गीता के **उपदेशक** के रूप में लोक के उद्धारकर्ता का चरित्र।

मैनेजर पाण्डेय ने 'कृष्णकथा की परम्परा' पर विचार करते हुए भक्ति आंदोलन के विकास में तीन मुख्य सहायक तत्वों को प्रमुख माना है— उस काल के सामाजिक जीवन के नए परिवर्तन, आचार्यो का दार्शनिक चिन्तन और भक्त कवियों की सृजनशीलता। अत: इन सहायक तत्वों के सहारे कृष्ण भक्ति धारा में जिन मानवीय मूल्यों की स्थापना उत्तर भारत में निंबार्काचार्य, चैतन्यमहाप्रभु और बल्लभाचार्य के राधाकृष्ण की भक्ति के माध्यम से हुई उसको पुन: व्यापकत्व दिया। बल्लभ सम्प्रदाय के भक्त कवियों को केन्द्र बिन्दु में रखकर हम उन मूल्यों की पहचान करेंगे जिससे मनुष्य के भावनाओं को मानवीय आधार पर बल मिला तथा जातीय चेतना की ज्योति प्रज्जवलित हुई। कृष्ण भक्तिधारा के भक्तकवियो ने मध्यकालीन

---

1 वही, पृ० 70।

जनता के सूखे पड़े हृदय में जिस भक्ति शक्ति का संचार किया - क्या उसमे जनवादी तत्व निहित हैं और निहित है तो किन अर्थो मे? इन मूल्यों पर आधारित ही इस काव्यधारा की जाँच परख आगे किया गया है

कृष्णभक्ति शाखा के कवि परम सत्य को सौन्दर्य और आनन्द के रूप मे मूर्तिमान करते हैं और उसी नि:शेष परिपूर्णता में शिव और सत्य को अन्तर्मुक्त मानते है। वे मानसी और रागानुगा भक्ति के समर्थक हैं। बाह्य आचरण, मर्यादा आदि को वे तुच्छ मानतेहैं। फलस्वरूप उनके काव्य में भावात्मकता और रसात्मकता कहीं अधिक है। काव्य के कलात्मक सौन्दर्य के लिए भी उसमें कहीं अधिक उर्वर क्षेत्र है यही कारण है कि कृष्ण भक्ति शाखा का काव्य ही अधिक सम्पन्न और समृद्ध हुआ। उसी की परम्परा आगे चली और आधुनिक युग तक पर्याप्त धूमधाम से जीवित है। उसी की सहज परिणति काव्य के उस रूप में हो सकी, जिसे बहुत कुछ अंशों में इहलौकिक (सेक्यूलर) कह सकते हैं। कृष्ण भक्ति शाखा का काव्य आगे चलकर कृष्ण काव्य होकर रह गया। भक्ति भावना बहुत कुछ दब गयी या गौण हो गयी। भक्ति और काव्य की सीमाओं को इतना निकट से मिलाकर बहुत कुछ समान रूप कर सकने की क्षमता कृष्ण भक्तिधारा के काव्य में ही है। (हिन्दी सा हित्य कोश, भाग-1, पृ० 209)।

16वीं सदीं के मध्य में कृष्णभक्ति साहित्य की सर्वाधिक रचना हुई थी। सूरदास, नंददास, कृष्णदास के अतिरिक्त अष्टछाप के पॉच अन्य कवियों के पद हिन्दी के कृष्ण भक्ति धारा के साहित्य को सम्पन्न करते है। परमानन्ददास, कुंभनदास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी, गोविन्द स्वामी के पदो मे कृष्ण के प्रति भक्तिभाव प्रचुर मात्रा में मिलता है। अष्टछाप की स्थापना विट्ठलनाथ ने किया था अत: ये सभी भक्त कवि श्रीनाथ जी के मंदिर में पूजा, अर्चन करते हुए सत्यभाव से कृष्ण के लीलागान मे निमग्न रहते थे। इसके अतिरिक्त मीरा के पद भी कृष्ण की भक्ति तथा प्रेम की पराकाष्ठा को उद्घाटित करते हैं।

कुंभनदास ने कृष्ण को विष्णु का अवतार मानते हुए लिखा हैं :—

अवनी असुर अति प्रबल मुनीजन कर्म छुड़ाए।

गऊ संतनि के हेत, देह धरि ब्रज में आए।

जेते संगी ग्वाल हैं, ते ते सब हैं देव।

हमनि गर्व इन्द्र कौ हर्यौ सो करत तुम्हारी सेव ॥ 14 ॥[1]

अर्थात् संतो के कल्याण के हेतु, भक्तों पर कृपा करने के लिए, दुष्टों का संहार करने के लिए ही साक्षात् परमेश्वर के रूप मे कृष्ण ने ब्रज में अवतार धारण कर अपनी लीला प्रकट की। राम साहित्य में अवतार के हेतु में संतों के साथ विप्रों का कल्याण भी जोड़ दिया गया है—2

विप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।

निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार॥ 192 ॥

अत: कृष्ण भक्त कवियों ने भागवत पुराण को आधार मानकर कृष्ण के अवतारवादी (लीलाधारी) दृष्टिकोण को अपने पदों में व्यक्त किया। कृष्ण भक्त कवियों ने मानवीय मूल्यों को अपने काव्य का विषय बनाया। ''मध्यकाल का सामंती समाज, मथुरा जनपद की आंदोलित स्थिति, दो विरोधी मूल्यों वाले धर्मो की टकराहट, दार्शनिक सम्प्रदायों का बाहुल्य बिन्दुओं के अन्दर से सूर ने अपने लिए रचना के जिस मार्ग की तलाश की, उसकी समझ का काम आसान नहीं रह जाता,क्योंकि उसके चारों ओर संप्रदायों की नाकेबंदी की जाती

---

1 कुभनदास, पृष्ठ 14।

2 रामचरित मानस, डा० माताप्रसाद गुप्त, वालकाण्ड पृ० 97।

रही है।''[1] सूरदास के साहित्य पर यह प्रश्न चिन्ह लगाया जाता रहा है कि उनके काव्य में प्रगतिशील तत्व नहीं है। वे श्रीनाथ जी के मदिर में बैठे हुए, तत्कालीन समाज से अलग-अलग रहते हुए कृष्ण की भक्ति में लीन रहा करते थे।

ऐसा आरोप लगाने वाले विद्वान आचार्य शुक्ल के सूर विषयक धारणा को गलत तरीके से पेश करते हैं। यह माना जा सकता है कि आचार्य शुक्ल ने ''सूरदास जी अपने भाव में मग्न रहने वाले थे, अपने चारों ओर की परिस्थिति की आलोचना करने वाले नही। संसार में क्या हो रहा है, लोक की प्रवृत्ति क्या है? समाज किस ओर जा रहा है, इन बातों की ओर उन्होंने अधिक ध्यान नहीं दिया है।''[2] इस धारणा को व्यक्त किया। लेकिन परवर्ती आलोचकों ने शुक्ल जी की इसी धारणा को सूरविषयक साहित्य के लिए मील का पत्थर मान लिया, जो एक प्रगतिशील आलोचक के गुणों के विपरीत है। सूर के काव्य की वास्तविक पहचान प्रगतिशील विचारकों के द्वारा प्रारम्भ हुई लेकिन वहाँ भी केन्द्र में कबीर और विशेष करके तुलसी ही विद्यमान रहे। सूरदास को हाशिए पर रखा गया।

सूरदास न कबीर की तरह समाज सुधारक है और न ही तुलसी की तरह उपदेशक। उनके काव्य में कबीर के समान उस समय के समाज की कड़ी आलोचना नही है और न तुलसी के समान समाज की व्यवस्था तथा मर्यादा की रक्षा का आग्रह है। वे प्रेम और सौन्दर्य के अंनत अनुभवों के अनुपम शब्द शिल्पी है। सूर की कविता विचारधारात्मक बयान देने वाली बातूनी कविता नही है।..... . .. सूरसागर में लोक-चिन्ता काव्यानुभूति के प्रवाह में अन्तर्धारा की तरह है, सतह पर तैरती लकडी जैसे नही।[3] आगे सूर की लोकवादी तथा यर्थाथवादी दृष्टि को और बेहतर ढंग से व्यक्त करते हुए मैनेजर पाण्डेय जी लिखते हैं—

---

1 भक्तिकाव्य का समाजशास्त्र, सुर· मानवीय सरोकार, डॉ० प्रेमशकर पृ० 81।

2 सूरदास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पृ० 191।

3 भक्ति आदोलन और सूरदास का काव्य, मैनेजर पाण्डेय पृ० 290-291।

''सूर की कविता अपने समय के समाज के पीछे चलने या उसकी आलोचना करने के स्थान पर उस सामंती समाज की व्यवस्थाओं, संस्थाओं और रुढ़ियों के दमनकारी प्रभावों का निषेध करती हुई एक ऐसे समाज की रचना करती है, जिसमें लोक और शास्त्र के बंधनों से स्वतन्त्र मानवीय भावों और मानवीय संबंधों का सहज स्वाभाविक विकास संभव हुआ है। उनकी कल्पना के वृंदावन में वात्सल्य की चरम सहजता और प्रेम की परम स्वतत्रता का अनुभव सामंती सामाजिकता के आतंक से एकदम मुक्त है। भक्तिकाल के दूसरे कवियों ने भी कल्पना लोकों की सृष्टि की है। जायसी का 'सिंहलद्विप' और तुलसी का 'राम-राज्य' कल्पना लोक ही है। सूर का वृंदावन जायसी के 'सिंहलद्वीप' और तुलसी के 'राम-राज्य' की तुलना में उस काल के सामंती समाज की सीमाओं से अधिक स्वतत्र है। उसमें स्वतंत्र मानवीय संबंधों की आकांक्षा अधिक मूर्त और गाह्य रूप में व्यक्त हुई है। वह मानवीय भावों की शक्ति और मानवीयसम्बंधों के सौन्दर्य का बोध जगाने वाला कल्पना लोक है। इसी विशेषता के कारण सूर का काव्य अपने समय की पुकार होते हुए कालातीत भी है। नाभादास ने भक्त कवियों में केवल सूरदास को 'कवियों का कवि' ठीक ही कहा है-"सूर कवित सुनि कौन कवि जो नहिं सिर चालन करै।''[1]

उपरोक्त कथन इस बात पर बल देता है कि सूर के काव्य में सामंती रूढ़ियों के प्रतिक्रिया स्वरूप ही कृष्ण के स्वतंत्र लीलागान के चरित्र को विशेष महत्व प्रदान किया गया। सामंती व्यवस्था परदा प्रथा, असंतोष, घुटन तथा संगास की व्यवस्था है, जिसमें साधारण जन की आशाएं, आकांक्षाएँ, सुख-दुख, सभी कुछ यहाँ तक की जीवन शैली सभी अभिजात्य वर्गीय समाज के अनुसार परिचालित होती है। जन साधारण की अपनी कोई इच्छा नहीं रहती है। इस तरह की व्यवस्था निश्चित तौर पर मानवीय जीवन से सरोकार नही रखती। सूरदास ने इन्ही रुढ़ियों के खिलाफ एक ऐसी व्यवस्था की कल्पना की, जिसमें

---

1 भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य, मैनेजर पाण्डेय, पृ० 291।

प्रेम, सौहार्द तथा मानवीय मूल्यों का निर्धारण स्वतंत्र रुप से हो सके। कृष्ण की लीलाएं इन्हीं मूल्यों को स्थापित करती है। गोपियों के द्वारा सम्पूर्ण समर्पण का भाव सूर की भावनाओ का सहज विकास था। सूर की भक्ति रागानुगा भक्ति है, जो मनुष्य की सहज रागात्मिका वृत्ति हैं। यह रागों का अनुगमन करती है।

रागानुगाभक्ति के दो भेद माने गए है :-

(क) काम रूपा (ख) संबंध रुपा।

गोपियों की भक्ति काम रुपा थी किन्तु इसमें भगवद्विषयक दृष्टि के समावेश होने के कारण इसे 'प्रेम' के नाम से जाना जाता है। काम मे निजत्व सुख की कामना होती है जबकि गोपियों के काम में कृष्णानन्द ही साध्य था, इसलिए उसे प्रेम के नाम से पुकारा जाता है। प्रभु के साथ, दास, सखा, पिता, पुत्र और दाम्पत्य सम्बंध पर आधारित रागानुगाभक्ति ही संबंध रूपाभक्ति कही गई है।

रूप गोस्वामी ने भक्ति रसामृत्तासिंधु में भक्ति रस की व्याख्या करते हुए भक्ति रस का स्थायी भाव भगवद् विषयक रति-प्रीति या स्नेह को मानते हुए, इसके पॉच प्रकार बताए हैं : (1) शांतिरति (शांत रस) (2) दास्य या प्रीतिरति (दास्यरस) (3) सव्य या प्रेयसरित (सव्यरस) (4) वात्सल्य या अनुकंपारति (वात्सल्यरस) (5) कांता या मधुरारति (मधुर या उज्जवल रस)।

अत: कृष्णभाक्ति धारा पर दृष्टि डाली जाए तो यह स्पष्ट होता है कि उपरोक्त भावों के आलम्बन भगवान कृष्ण ही है। सूर ने कृष्ण और गोपीयों के प्रेम को इसी भाव से देखा है। अगर रास-लीला की व्याख्या प्रगतिशील समाज के स्तर पर की जाए तो यह तथ्य उभर कर सामने आता है कि निश्चय ही ग्रामीण परिवेश मे सामंती व्यवस्था के कारण स्त्रियों की दशा शोचनीय रही होगी और उस कटुता को प्रेम के माध्यम से दूर करने के प्रयास के

निमित्त ही सूर ने कृष्ण के लीलामय चरित्र को ब्रजभूमि में उतारा होगा। कृष्ण द्वारा गोप-गोपियों के साथ 'गोचारण' जो एक कृषि सस्कृति या व्यवस्था का अंग है एक स्तर पर प्रगतिशील ही कहा जा सकता है। जो विद्वान यह आक्षेप लगाते हैं कि सूर के काव्य में सामाजिक जीवन का चित्रण नहीं है वे सूरसागर के उनपक्तियों को पढ़े जिसमें कृषक जीवन से सम्बंधी सूक्ष्म से सूक्ष्म भावो का चित्रण व्यापक स्तर पर किया गया है :

प्रभू जू यौं कीन्ही हम खेती।

बंजर भूमि गाउं हर जोते, अरू जेती की तेती।

काम क्रोध दोउ बैल बली मिलि, रज तामस सब कीन्हौं।

अति कुबुद्धि मन हांकनहारे, माया जूआ दीन्हों।

इन्द्रिय मूल किसान, महातृन अग्रज बीज बई।

जन्म जन्म को विषय वासना, उपजत लता नई।

कीजै कृपा दृष्टि की बरषा, जन की जाति लुनाई।

सूरदास के प्रभु सौ करियै, होई न कान-कटाई।।[1]

इस पद में रुपकों के माध्यम से कृषि जीवन के उन सभी बिन्दुओं पर प्रकाश हैं जो एक किसान के लिए आवश्यक है और यह वर्णन समाज से तटस्थ रहकर कोई कवि नहीं कर सकता। सूरदास समाज प्रवृत्तिमार्गी विचारधारा को प्रतिष्ठित करने वाले भक्त कवि है तभी तो उनके काव्य में किसान के उन सभी कृत्यों पर प्रकाश है, जो कृषि कर्म में आवश्यक है। सामंती जीवन के साथ कृषक जीवन का विवेचन सूर को समाज में गहरी रुचि की ओर

1, सूरसागर, भाग-1, पद स० 185।

इंगित करता है। कवि का प्रधान गुण यह होता है कि उसकी कविता समय तथा समाज का साक्षात्कार करती हुई चले। सूर अपने तत्कालीन समाज का चित्रण करते हैं, जिसमें लगान के कारण निर्धनता, सामंती लूट और कर्मचारियों का कपटाचरण ध्वनित होता है।[1]

अधिकारी जम लेखा मांगै, तातै हो आधीनौ।

घर में गथ नहिं भजन तिहारौ, जौन दिय मैं छूटौ।

धर्म जमानत मिल्यौ न चाहै, तातै ठाकुर लूटौ।

अहंकार पटवारी कपटी, झूठी लिखत बही।

लागै धरम, बतावै अधरम, बाकी सवै रही।

सोई करौ जु बसतै रहियै, अपनौ धरियै नाउं।

अपने नाम की वैरख बांधौ, सुबस बसौं इहिं गाउं।

जन साधारण शासक वर्ग के अत्याचार से संतप्त है तभी तो सूरदास ऋण की प्रथा-जिसमें क्रूरता का भी भाव छिपा है, से दुःखी जीवन का चित्रण करते हैं—[2]

सवै कूर मोसों ऋण चाहत, कहौ कहा तिन दीजै।

बिना दियै दुख देत दयानिधि, कहौ कौन विधि कीजै।

सामंतवाद की जड़ें पूंजीवाद में निहित होती है। तत्कालीन समाज भी पूंजीपतियों के कुचक्र में फंसा था और साधारण जनता में इसका इतना व्यापक अत्याचार था कि ऋण तथा

---

1 सूरसागर, 1/185।

2 सूरसागर भाग-1 पद स० 196।

ब्याज को रूपक के माध्यम से सूर ने गोपियों के भावनाओं को अभिव्यक्त करते हैं।— ''सूर सूर अक्रूर लै गयो, ब्याज निवेरत ऊधौ।'' अर्थात कृष्ण मूलधन है और उनकी स्मृति ब्याज है, मूलधन तो अक्रूर ले गए पर अब ब्याज वसूल करने उद्धव आए हैं।

इस प्रकार तत्कालीन समाज में व्याप्त कुप्रथाओं पर दृष्टि सूर की जातीहैं। वे बंद आंखों से भी उन भावनाओं को सहज ही व्यक्त कर देते हैं, जो दृष्टि रखने वाला कवि भी नहीं कर सका है।

जब समाज में कलुषता हो तो एक प्रगतिशील कवि का पहचान यही होगी कि 'प्रेम' तत्व को अपने वाणी का विषय बनाएं जैसा कि सूरदास ने किया। उनका 'प्रेम' सम्पूर्ण समर्पण का प्रेम है। **कृष्ण - गोपियाँ और तत्कालीन परिवेश**- ये तीनों मिलकर एक ऐसे मार्ग का निर्माण करते है जिस पर विषय वासनाओं से संलिप्त पथिक भी चलकर स्वच्छ प्रेम की अनुभूति रुपी सागर में गोते लगाने लगता है। यहाँ 'स्व' की भावना का नाश हो जाता है और 'अद्वैत' की स्थिति में जीव तथा ब्रह्म एकाकार ही स्थिति में हो जाते है। इस स्थिति मे गोपियाँ तथाकथित सामाजिक वर्जनाओं का निषेध करती प्रतीत होती है। सारे बॉध टूट जाते हैं। पति, गृह, वात्सलय सभी कुछ प्रेम प्रवाह में डूब जाता है—

जबहीं बन मुरली स्रवन परी

चकित भई गोप कन्या सब, काम-धाम बिसरीं।

कुल मर्जाद वेद की आज्ञा, नेकहूँ नहीं डरीं।

श्याम-सिंधु, सरिता-ललना-गन, जल की ढरनि ढरीं।

अंग मरदन करिबे को लागीं, उबटन तेल घरी।

जो जिहिं भाँति चली सो तेसेहि, निसि बन कौ जु खरी।

सुत-पति नेह, भवन-जन-संका, लज्जा नाहिं करी।

सूरदास प्रभु मन हरि लीन्हों, नागर नवल हरी।[1]

अतः मुरली प्रसंग में सूर ने ग्राम-संस्कृति से जुडे लोक उपादानों का भरपूर प्रयोग किया है दार्शनिक सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए सूर ने एक मानवीय संसार की कल्पना भी की है, जो प्रत्येक 'मनुष्य' के लिए सहज ही उपलव्ध है। जाति-पाँति आदि की भावना सूर के काव्य में कृष्ण के स्वरूप स्थापना में ही समाप्त हो जाता है। कृष्ण प्रेम के अवतार थे और मनुष्य मात्र को प्रेम का संदेश देना चाहते थे, जो सूर के काव्य में पूर्ण रूप से ध्वनित हुआ है।

जनवादी दृष्टि की पहचान सूर साहित्य में कृष्ण के स्वरूप निर्धारण के साथ ही हो जाती है। सूर ने कृष्ण-गोपिकाओं के माध्यम से मानवीय मूल्यों को स्थापित करते हुए उनका सम्पूर्ण सामाजीकरण कर देते है। इसके लिए कवि सूर को ''कृष्ण के पौराणिक देवत्व, उनके व्यक्तित्व के चारों ओर का मिथकीय जादुई संसार, जिसमें न जाने कितनी अतिलौकिक चमत्कारी लीलाएं सम्मिलित हैं, से भी लडना पड़ता है। मध्यकालीन सामंती समाज, जिसके लिए पुरोहितवाद के प्रश्रय में काफी उर्वर भूमि मिल रही थी, इन सबके बीच सूर अपने कृष्ण के देवत्व का मानवीकरण करते हैं, उन्हें सहज मनुष्य की भूमि पर उतारते हैं और रसिकता को एक नई अर्थदीप्ति देते है उन्हें कर्म की भूमि पर उतारकर।[2]

अस्तु कृष्ण की सामाजिकता उनके जनवादी व्यक्तित्व में है जहाँ वे अपने को वर्गच्यूत करते हुए चारागाही संस्कृति को गति प्रदान करते हैं। यहाँ देखा जाए तो नगरीय संस्कृति तथा ग्रामीण संस्कृति के बीच द्वन्द्व भी उभर कर आता है। कृष्ण का मथुरागमन

---

1 सूरदास, पद संख्या 1618।

2 भक्तिकाव्य का समाजशास्त्र, डॉ0 प्रेम शकर पृ0 83 ।

और गोपियों की प्रतिज्ञा रत भावनाएं, नगरी संस्कृति के शोषण वृत्ति को उजागर करती है। जिस प्रकार शासक वर्ग नगरों में रहता है और ग्रामीण जन साधारण वर्ग का शोषण करता है उसी प्रकार उस चकाचौंध भरी जिन्दगी मे जाकर कृष्ण - गोपियों को भूल जाते हैं (ऐसा कृष्ण का भाव नहीं था वह तो कर्म क्षेत्र में रत, अपने अवतारी लक्ष्य को पूर्ण करने मे निमग्न थे), गोपियों की भावनाए ऐसा सोचती हैं । अत: मानसिक स्तर पर प्रतीक्षा रत गोपियों का यह कहना-वा मथुरा काजरि की कोठरि जे आवे ते कारे । वे नागर मथुरा निरकोही, अंग अंग भरे कपट चतुराई।[1] नगर नारि मुख छवि तन निरखत, द्वै बतियाँ बिसरीं।[2] नि: संदेह नगर और ग्राम जीवन के दूरी को उद्घाटित करता है।

मनुष्य के सौन्दर्य बोध का उसके भावबोध से और भावबोध का जीवन जगत के अनुभव तथा ज्ञान से गहरा संबंध होता है। मनुष्य के सौन्दर्य की कल्पना भी उसके अनुभव और ज्ञान के दायरे के भीतर ही क्रियाशील होती है यही कारण है कि कविता में आए अलंकार, बिम्ब और प्रतीक भी कवि और कविता के देशकाल की ओर संकेत करते हैं। उदाहरण के लिए 'ढोला मारूरा दूहा' का यह दोहा देखिए और विचार कीजिए कि इसमें अलंकार और भाषा के माध्यम से राजस्थान का जीवन और परिवेश कैसे आया है- 'हूँ कुमलावणी कंत विणु जलह विहुणी बेल। विणजारा री भाइ जिउं गया धुकंती मेल ॥' (मै जल विहीन लता की तरह कंट के बिना कुम्हला गई हूँ। मेरा प्रिय बनजारे की भट्टी के समान मुझे सुलगती छोड़ गया है।)[3] इस दोहे के माध्यम से पाण्डेय जी यह बताना चाहते हैं कि कवि की रचना किस प्रकार अपने देशकाल परिस्थितियो से जुड़ी रहती है। इसके पूर्व वर्णन में ही इसी तरह की भावनाओ का समावेश गोपियों के कथन में समाहित है।

---

1 भ्रमरगीत, पद 347 ।

2 वही पद 251 ।

3 भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य, मैनेजर पाण्डेय पृ0 300 ।

सूरदास भी अपने देश काल वातावरण से प्रभावित उन मूल्यों को स्थापित करते हैं, जो लोक जीवन के तंतुओं को मानव समुदाय से जोड़ता है। इस दृष्टि से सूर में ''मध्यकालीन ब्रजमण्डल का लोकजीवन कई तरह से झांकता है। उस जनपद को जिस प्रकार की किसानी चारागाही संस्कृति से जोड़कर देखा जाता है, उसके तमाम चित्र यहाँ उरेहे गये हैं। गोकुल, वृंदावन, यमुना, ग्वाल बाल, गोधन, दाधि माखन सब उस दृश्य को प्रमाणिकता देते हैं, उसमें रंग भरते है। लगता है ब्रजमण्डल यहाँ अपने ढेरों सस्कारों के साथ उपस्थित है। उसकी मोहक प्रकृति पृष्ठभूमि का कार्य करती है और ब्रज के लोकविश्वास, तीज-त्यौहार, टोना-टोटका सब वहाँ प्रवेश कर जाते हैं।''[1]

अतः सूर काव्य विलासी जीवन को लगभग नकारता हुआ प्रकृतिमार्गी भाव भूमि पर खड़ा दिखाई पड़ता है, जिसमें अपने समस्त भावनाओं के साथ सामान्य जन संलग्नता के साथ दिखाई देता है। सूर ने कृष्ण के व्यक्तित्व को नया आयाम दिया और कृष्ण भक्ति धारा को नई अर्थवत्ता से जोड़ा, जिसमें जनसाधारण वर्ग प्रेम और संवेदना के साथ अपनी जीवन लीला को जीता प्रतीत होता है जहाँ किसी प्रकार का सामंती परिवेश उन पर लागू नहीं होता। वे उन समस्त मूल्यों को तोड़ते नजर आते हैं, जो समाज को पीछे ढकेलता है। साथ ही साथ एक ऐसे 'ब्रजमण्डल' रूपी समाज की कल्पना करते हैं, जिसमें बाह्याचार, धर्माडम्बर, जाति-पाँति का भेद-भाव समाप्त होकर स्वतंत्र प्रेम की भावभूमि पर समाज खड़ा होता प्रतीत होता है। जनसाधारण के लिए इससे बढ़कर सूर का प्रदेय क्या हो सकता है कि अपनी समस्त लोक संस्कार के साथ पूरा जन समुदाय एक साथ एकत्रित हो सके बिना किसी भेद भाव के। डॉ0 प्रेम शंकर सूर पर टिप्पणी करते हुए लिखते है कि सूर ने कृषक चरवाहा संस्कृति को कृष्ण लीला के माध्यम से व्यक्त करते हुए सामान्य जन के संवेदनाओं को

---

1 भक्तिकाव्य का समाजशास्त्र डॉ0 प्रेम शंकर पृ0 95।

अपनी चेतना के निकट रखा है।[1] कृष्ण जब स्वयं कहते हैं कि मुझे राजसी जीवन प्रिय नहीं तो निःसंदेह वे उस सामंती व्यवस्था का विरोध करते हैं जिममे तत्कालीन मध्यकालीन समाज त्रस्त था -

सुनि सतभाम सौह तिहारी

जब-जब मोही घोष सुधि आवत, नैननि बहुत पनारी।

वे जमुना वे सखा हमारे, नित नव केलि बिहारी।

वृन्दावन की गुल्मलता हैं, मन मधुकर की प्यारी।

सीधी वृच्छ गोप के मंदिर, उपमा कहौं कहा री ।

मानों अधर सरोवर बासे, जसुदा-सी-महतारी।

माखन खान केनु दुहि पीवन, ओदन सुपति बिहारी।

सूरदास प्रभु उनहि मिले तें, मैं सुरपुरी बिसारी ।।[2]

आज भी हमारा आधिसंख्य भारतीय समुदाय गावों में रहता है और भारत वर्ष एक कृषि प्रधान देश है। ऐसे में सूर द्वारा कृषि कर्म के अभिन्न अंग चारागाही संस्कृति के रुपकों के माध्यम से कृष्ण भक्ति धारा की जो रूपरेखा तैयार की, निश्चित तौर से यह सूर जैसे जनवादी कवि के द्वारा ही संभव हो सकता था, जिसने मनुष्य के मानवीय रूप प्रेम को अपनी रागानुगाभक्ति के माध्यम से अभिव्यक्ति दी। सूर के काव्य को मानव समुदाय के समस्त हृदय को प्रकृति के घटाटोप में स्पन्दित करने वाली भक्ति धारा के रूप में मानते हुए मैनेजर

---

1 भक्ति काव्य का समाजशास्त्र- पृ0 102।

2 सूरसागर पद स0 4892।

पाण्डेय का यह कथन सही प्रतीत होता है कि – 'कृष्ण की सम्पूर्ण लीला प्रकृति के स्वच्छंद परिवेश में जमुना के किनारे और वृन्दावन में चलती है। यहाँ प्रकृति केवल पृष्ठभूमि नहीं है, वह लीला के स्वरूप और प्रेम की प्रकृति का निर्माण करने वाली सक्रिय शक्ति है। कृष्ण और गोपियों के प्रेम में जो सहजता, स्वच्छंदता तथा उत्सवधर्मिता है और लोक के बंधनों को अस्वीकार करने का साहस है, वह सब प्रकृति के स्वच्छंद वातावरण के कारण संभव हुआ है अन्यथा 16वीं सदी के भारतीय समाज मे ऐसा प्रेम कहाँ संभव था। सूर के काव्य प्रकृति सामंती रूढ़ियों से मानव मन की मुक्ति का एक माध्यम है।[1]

उपरोक्त कथन निश्चित रूप से सूर के प्रकृति प्रेम और मानवीय मन की समझ की ओर संकेत करता है, जिसमें योग और ज्ञान के बदले भक्ति और प्रेम को स्थापित किया गया है। सगुण साकार कृष्ण की लीलाओं में संकुचित भावनाओ का समावेश कहीं नहीं दिखाई पड़ता । अगर ऐसा होता तो रसखान, रहीम, नजीर अकबराबादी जैसे मध्यकालीन मुसलमान कवियों ने अपने काव्य का विषय कृष्ण भक्ति के प्रेम पक्ष को कभी नहीं बनाते ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तुलसी की अपेक्षा सूर को अधिक साम्प्रदायिक (वल्लभ सम्प्रदाय तथा पुष्टिमार्ग से सीधे जुड़ाव के नाते) माना है किन्तु अगर ध्यान दें तो सूर के काव्य पर वल्लभ सम्प्रदाय और पुष्टिमार्ग का कोई विशेष प्रभाव रचना धर्मिता के स्तर पर दिखाई नहीं पड़ता वस्तुतः सूर की कविता में धर्म का जोर उतना नहीं रहा जितनी कविता का।

अतः सूर का काव्य मनुष्यता के लिए, मनुष्य मात्र का आग्रही है, जिसमें कृष्ण के लीलामयी स्वरूप के माध्यम से भक्ति और प्रेम का सर्वांगीण विकास हुआ है जिसका लक्ष्य ''वृंदावन'' जैसी नयी लोक संस्कृति के निर्माण में निहित है।

---

1 भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य, सूर का काव्य और किसान जीवन पृ0 303।

''भक्ति आन्दोलन की इस क्रान्तिकारी लोकोन्मुखता ने जिस तरह वर्ण व्यवस्था और दूसरे सामाजिक विधि विधानों के तहत सदियो से यातनाग्रस्त शूद्रों और अंत्यजों की व्यथा को उन्हीं की पंक्ति से आए संतों की वाणी के माध्यम से मुखर किया, उसी तरह भक्ति आन्दोलन के इस ज्वार ने शूद्रों और अंत्यजों की ही भाँति सामाजिक भेदभाव की यातना से ग्रस्त, संदियों से पीड़ा झेलती हुई नारी के अन्तर्मन को भी अपनी आशाओं-आकांक्षाओ तथा स्वप्नों के साथ समाज की सतह पर ला दिया। स्मरण रहे कि इस अभिव्यक्ति का माध्यम भी भक्तों की श्रेणी में परिगणित नारियाँ ही बनी जिनकी भागवत भक्ति में शूद्रों और अंत्यजो की ही तरह आत्मनिवेदन के मार्मिक स्वर सहज ही सुने जा सकते हैं।''[1] कृष्ण भक्ति धारा की अनूठी देन मीरा कुछ इसी तरह की भावनाओं को लेकर आराध्य देव कृष्ण के प्रेम में अपने जीवन को समर्पित कर दिया। मीरा की अभिव्यक्ति का स्वरूप नारी मन में सदियों से चली जा रही घुटन तथा संगास से उपजी भावनाओं का सहज मूर्तरूप है । लोक तथा समाज, जिसमें नारी को प्रत्येक स्तर पर दमघोंटू माहौल मे जीने के लिए विवश किया जाता रहा है उसी बेड़ियों को तोड़ती हुई मीरा की पदावली भक्ति का अनुपम रूप प्रस्तुत करती है।

नारी की समाज में स्थिति मसलन उसे किस प्रकार अपने ससुराल में अत्याचार सहना पड़ता है- मानसिक स्तर पर, शारीरिक स्तर पर इन सब की अभिव्यक्ति मीरा के काव्य में स्पष्ट परिलक्षित होता है और एक चेतना के स्तर पर दृढ़ इच्छा शक्ति रखने वाली नारी के रूप में मीरा का अभ्युदय नारी लोक जागृति का उदाहरण बन जाता है। मीरा ने भौतिक प्रपंचों को तिरस्कृत करते हुए सासारिक विषय वासनाओं से दूर अपने जीवन को कृष्णमय बना दिया।

---

1 भक्ति आन्दोलन और भक्तिकाव्य- डॉ0 शिव कुमार मिश्र पृ0 123।

सामाजिक यातना की शिकार मनुष्यता के प्रति मीरा का आह्वान यही था कि वे अपने को दीनों के पालक, लोकरक्षक, कृष्ण को सौंप दें।

इस प्रकार मीरा का काव्य मध्यकालीन समाज में पीडित नारी, उसके दु:ख, उसके अन्तर्द्वन्द्व का वास्तविक दस्तावेज है। जिसमें नारी स्वतंत्रता की प्रबल अभिलाषा निहित है, जो सच्चे अर्थो में जनवादी विचारधारा के साथ स्त्री जाति के लिए एक नये लोक की स्थापना करती है। मीरा का दर्द स्त्री जाति का दर्द बन कर उनके काव्य में ध्वनित होता है-

हेरी म्हॉ तो दरद दिवाणी म्हारॉ दरद णा जाण्यॉ कोय।

घायड़ की गति घायड़ जाण्यां हिबड़ो अगण संजोया,

जौहर की मत जौहर जाण्यां क्या जाण्यां जिण खोया;

दरद री मारयां दर-दर डोड्यॉ वेद मिड्यॉ णा कोय ।

मीरा री प्रभू पीर मिटांगा जब वैद सांवरो होय ।

अत: प्रेम का आलंबन लेकर मीरा का काव्य मध्यकालीन समाज व्यवस्था की असहिष्णुता, अमानवीयता, भेदपूर्ण नीति आदि को जन समुदाय के सामने बेनकाब कर देता है और लोक चेतना की पुकार करता है।

वैसे तो कृष्ण भक्ति धारा में भक्त कवियों की लम्बी परम्परा है जिनके काव्य किसी न किसी रूप में कृष्ण भक्ति को आधार बना कर रचे गये हैं। लेकिन मीरा के अतिरिक्त कुछ हद तक समाज को प्रभावित करने वाले कवियों में रसखान और रहीम का विशेष योगदान है। ये दोनों भक्त कवि प्रेम को ही भक्ति का केन्द्र बिन्दु मानते थे और उसी को

जीवन का सार समझते हुए अपने काव्यों की रचना किये । जनवादी आधार पर इनकी उपायदेयता मात्र इतनी है कि इन्होंने भाषा के स्तर पर काव्य को समृद्ध किया जो काव्यगत स्तर पर प्रगतिशील मानी जा सकती है। रसखान का काव्य भक्ति का अनन्यतम उदाहरण है।

उपरोक्त विवेचना के आधार पर कहा जा सकता है कि कृष्ण भक्ति धारा में सूरदास ने जिस भारतीय सांस्कृतिक धरोहर को गति प्रदान की है वह अपने मूल रूप मे जनसाधारण की सामाजिक स्वतंत्रता की वास्तविक पहचान कराती है और मानव सभ्यता के विकास में ग्रामीण संस्कृति को गति प्रदान करती है।

-----00----

पंचम् अध्याय

(5) भक्ति साहित्य के अन्तर्विरोध जनवादी दृष्टि से

पंचम अध्याय

भक्ति साहित्य के अन्तर्विरोध-जनवादी दृष्टि से

मध्यकालीन काव्य साधना एक ऐसे परिवेश में पुष्पित तथा पल्लवित होती है, जिसमें सुधारवादी चेतना को पुरोहितवाद बार-बार अपने नियत्रण में लेना चाहता है। जिस विचारधारा का विरोध कबीर आदि निर्गुणिया सन्तो ने किया था- वही मूल्य समय के दबाव के कारण पुनः स्थापित होता जाता है। सम्प्रदाय, मठ, पीठ, आदि बनते हैं और पुनः समाज सुधारकों से उनका विरोध संघर्ष होता है लेकिन अन्ततः कुछ समय के उपरान्त वे सारे सुधारवादी दृष्टिकोण सामंती परिवेश के दबाव के आगे शिथिल पड़ जाते हैं। पूरे मध्य काल पर दृष्टि डालें तो यह स्पष्ट होता है कि एक लम्बे समय तक समाज में अनेक स्तर पर अन्तर्विरोध जारी रहता है, जिसे चार बिन्दुओं के माध्यम से विवेचित किया जा सकता है, जो निम्न है-

(क) लोक और शास्त्र के स्तर पर अन्तर्विरोध।

(ख) सामान्य जन और सामंतीय मूल्यों के बीच अन्तर्विरोध।

(ग) शूद्र और द्विज के स्तर पर अन्तर्विरोध।

(घ) निर्गुण और सगुण के स्तर पर अन्तर्विरोध।

अतः मध्यकालीन कवि किसी विशेष बिन्दु को लेकर संघर्ष करता नहीं दिखता बल्कि उसके सामने जो लक्ष्य है, वह मात्र आत्म विस्तार का है। भक्त कवि इसी दृष्टि के साथ अपने काव्य की इमारत को खडी करते हैं।

मध्यकालीन कवियो ने शास्त्रविहित मान्यताओं का प्रत्येक स्तर पर विरोध किया। जैसा कि पिछले अध्यायों में यह उल्लेख किया जा चुका है कि भक्ति आंदोलन एक लोक जागरण था- जिसमें सामान्य जन में प्रतिष्ठित उन सभी रीति-रिवाजों, आचार-विचारों को

प्राथमिकता प्राप्त होती है। शास्त्र और लोक स्तर पर यह संघर्ष मध्यकालीन भक्ति साहित्य की प्रगतिशील दृष्टि को इंगित करता है।

लोक का तात्पर्य है-जन सामान्य, लोक साहित्य, लोक भाषा, लोकगीत, लोक कथा आदि। वैदिक साहित्य के अतिरिक्त वे सभी काव्य जो जन सामान्य की ओर झुके हुए हैं। लोक साहित्य के अन्तर्गत आते हैं। वस्तुतः मध्यकाल मे नागर संस्कृति या शिष्ट संस्कृति से पद्दलित समुदाय टकराता है और यह टकराहट एक ऐसे नद् की स्थापना करता है, जिममें शोषित प्राणी अपने समस्त वैर भाव को भुलाकर प्रेम की धारा में बहते दृष्टिगत होते हैं। मतो ने शास्त्र विहित मान्यताओं का खण्डन किया। कबीर जैसे क्रान्तिधर्मी चरित्र वाले संत ने समाज में दो तरह की भूमिका को लेकर अपनी सुधारवादी दृष्टिकोण को अभिव्यक्ति दी। एक तो उन्होंने वाह्याचार और कर्मकाण्ड का विरोध किया तथा राम के निर्गुण रूप को ज्ञान और भक्ति का माध्यम बनाया। साधारण जनता के बीच दशरथ सुत राम की कल्पना न करके, उन्होंने निराकारी राम की उपासना पर बल दिया। लेकिन कही-कहीं जब कबीर कहते हैं कि ''तन रति करि मैं मन रति करिहौ पंच-तत्व बाराती। राम देव मोही ब्याहन आये, मैं जोबन मतमाती।'' तो साधारण जनता को भ्रम हो जाता है और कबीर की गूढ़ भरी लोकोक्तियाँ उसे समझ में नहीं आती। और यही आगे चलकर कबीर के पंथ में अनेक विकृतियों को जन्म देने का माध्यम बनता है। जिस वर्ग हीन, वर्णहीन समाज की कल्पना कबीर करते हैं उनके ही समर्थकों द्वारा कालान्तर में उनके विचारों को खण्डित कर दिया जाता है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अधिकांश मध्यकालीन वैदुष्य को महज टीकाओं तथा भाष्यों की रचना तक ही सीमित मानते हुए लिखा है :— वस्तुतः सामन्त वाद के पतन के साथ हिन्दु धर्म के पंडितों तथा आचार्यो ने, इस्लाम की ओर से आई चुनौती के आतंक में जिस एक बात पर सर्वाधिक बल दिया वह थी पुरानी व्यवस्था को सही सिद्ध करने के लिए शास्त्रों तथा प्राचीन धर्म ग्रन्थों की नयी व्याख्या; फलतः टीकाओं तथा भाष्यों का एक

अंबार सा हमें इस समूचे काल में दिखाई पड़ता है। हिन्दू समाज को संगठित करने के लिए नए-नए आचारों तथा विधि विधानों का भी रूप सामने आया तथा प्राचीन आचारों तथा कर्मकाण्डों को भी फिर से रेखांकित किया गया।''

जाहिर है कि अतीत को फिर से जीवन्त करने का प्रयास तत्कालीन संदर्भो में पूरी तरह से कारगर साबित नहीं हो सका। नई आर्थिक तथा सामाजिक शक्तियॉ अपने नए विचारों के साथ सामने आकर प्राचीन आचार-विचारों तथा विश्वासों को नई चुनौतियॉ दे रही थीं। नये विचारक अपने विचारों के माध्यम से पुरातन व्यवस्था के असंगतियों को उभार रहे थे तथा समाज को संगठित करने के उद्देश्य से नई दिशाओं का प्रवर्ततन कर रहे थे, जो जाहिर तौर पर चली आती हुई लीक के विरोध मे था। ऐसी स्थिति में ही सामंतवाद की जकड़बंदी के कमजोर पड़ने का लाभ उठाकर भारत में एक नये जन अभियान का रूप सामने आया जिसे भक्ति के आंदोलन के नाम से पहचाना जाता है।[1]

अत: लोक विरोधी मान्यताओं के साथ समाज के जन साधारण वर्ग का अन्त: संघर्ष एक लोक चेतना को जन्म देता है। इतिहास के दबाव के कारण जो शास्त्र समस्त मान्यताएँ ज्ञान तथा कर्मकाण्ड पर जोर दे रही थी उनका आग्रह 'शील', विनय पर हो गया। ब्राह्मण धर्म के पुरोहित्य कर्मकाण्ड और भागवत धर्म का संघर्ष ही लोक और शास्त्र के बीच संघर्ष का आधार बनता है, जिसमें दो विरोधी भावनाऐ एक साथ अपने प्रभुत्व को स्थापित करना चाहती है। अत: सामंत जन और सामान्य जन के बीच सघर्ष का परिणाम भक्ति काल के रूप में सामने आया।

सामंत जन जो अपने अंकुश की डोर समाज पर से ढीला नही होने देना चाहता था और शोषणवादी नीति के बल पर घोर अत्याचार को प्रश्रय दे रहा था, जिससे सामान्य जनता के अन्दर घोर असंतोष था, जिसका वर्णन 'दोहावली' में गोस्वामी तुलसीदास ने किया है—

---

1 भक्ति आन्दोलन और भक्ति काव्य-डॉ० शिव कुमार मिश्र पृ० 14।

गोंड गँवार नृपाल महि जमन महा महिपाल।

साम न दाम न भेद कलि केवल देंड कराल।।

अर्थात् गोंड और गंवार राजा है और यवन महामहिपाल है। कलियुग में राजनीति साम, दाम, और भेद पर स्थित न होकर केवल कालदण्ड पर स्थित है। यहाँ पर तुलसीदास के कथन से यह बात तो स्पष्ट हो ही जाती है कि तत्कालीन समाज में कोई शासन व्यवस्था नहीं थी।

संत कवि कबीर ने जाति-पॉति व्यवस्था का विरोध करते हुए वर्ण व्यवस्था पर आघात किया। आलवार संतों से लेकर कबीर की संत परम्परा तक जितने भी भक्ति काव्य के पुरोधा हुए लगभग सबके सब निम्न जाति से संबंध रखने वाले थे- यह एक विशेष बात संत काव्य धारा के अन्तर्गत देखने को मिली। शायद इसी से प्रभावित होकर हमारे आलोचकों ने इसे जन आंदोलन या साधारण वर्ग के आंदोलन के रूप में इस भक्ति धारा को अभिहित किया। लेकिन जिस परम्परा का विरोध कबीर आदि संतों ने किया था, उसको कुछ हद तक अपने विचारों में गोस्वामी तुलसी ने समाहित कर लिया।

यह आश्चर्य की बात है कि जिस भक्ति आन्दोलन का अभ्युदय आलवार संतों (जो नीची जाति के थे) के द्वारा होता है उसकी एक प्रमुख धारा-राम भक्ति धारा का कोई भी कवि पिछड़े समाज से नहीं आता। यह भक्ति साहित्य के अन्तर्विरोध को स्पष्ट करता है।

सामंत और जन साधारण के बीच संघर्ष दो स्तरों पर विद्यमान रहा। एक वर्ग सदैव रीति अर्थात् भोग विलास की संस्कृति में विश्वास रखता हुआ सदैव भक्ति के जडों को काटने में लगा रहा। तभी तो भक्ति के मार्ग में जब रोड़ा आया तो रीतिकालीन जैसे दरबारी काव्य का जन्म हुआ और समय के साथ मनुष्य के सोच मे भी बदलाव आया।

परिस्थितियों के दबाव के कारण तुलसीदास ने उसी वर्ण व्यवस्था का समर्थन किया जिस वर्ण व्यवस्था के चलते समाज अपने अध: पतन की ओर जा रहा था-

वरनाश्रम निज धरम निरत वेद पथ लोग।

चलहि सदा पावहिं सुखाहिं नहिं भय सोक न रोग।।

यह स्पष्ट है कि जनवादी मूल्य वर्ण व्यवस्था के भीतर नहीं स्थापित किए जा सकते। जनवादी विचारधारा एक प्रगतिशील विचारधारा है, जो समाज को जातिमुक्त, वर्णमुक्त, भयमुक्त देखने का पक्षधर है। तुलसी की वर्णाश्रम व्यवस्था निःसंदेह एक ऐसी कपोल कल्पना थी,जो भक्ति साहित्य के अन्तर्विरोध के रूप मे, बहस के लिए उन्हे 'मध्य' में खडा कर देती है।

तुलसी के रामचरित मानस में शूद्र विषयक विचार उनके अन्तर्विरोध को प्रकट करते हैं। यह अन्तर्विरोध सामंत और जन के स्तर पर ही न रहकर शूद्र और द्विज के स्तर पर भी दृष्टिगत होता है।

पुरोहित वर्ग जिस व्यवस्था के अनुसार समाज को परिचालित कर रहा था, उसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के अतिरिक्त शूद्र के लिए कोई विशेष महत्व नहीं था। अतः द्विजों और शूद्रों के बीच संघर्ष स्वाभाविक था जहॉ एक जातीय चिन्तन और चेतना के स्तर पर पूरा निम्न वर्गीय समाज आन्दोलित हो गया था और सामंतीय ढॉचा टूट रहा था। अपने टूटते वर्ण व्यवस्था रूपी वर्चस्व को द्विज वर्ग इतनी आसानी से कैसे बचा पाता। पुरोहित वर्ग ने शास्त्र के अनुसार सत्य के दो रूप को माना है— पारमार्थिक और लौकिक। आध्यात्मिक स्तर पर सभी आत्माओं की पवित्रता और एकता पारमार्थिक सत्य है, लेकिन समाज में अमीर–गरीब, ऊँच-नीच, जाति-पॉंति आदि का भेद व्यावहारिक या लौकिक सत्य है। सत्य के इन दोनों रूपों की सामानान्तर सत्ता बनाए रखना शास्त्रीय धर्म का मुख्य लक्षण रहा है। कबीर ऐसे शास्त्रीय धर्म और उसके अनुयायी लोकधर्म दोनों का विरोध करते है।

अतः निर्गुण भक्ति धारा मे जहाँ जाति, वर्ग, वर्णगत भेदभावों तथा उसके परिणामस्वरूप कष्ट झेल रही साधारण जन का तीव्र विरोध दृष्टिगत होता है, तो वहीं सगुण कृष्ण भक्ति में आकर वह एकदम कम हो जाता है। सगुण और निर्गुण का अन्तर्विरोध भी

भक्ति साहित्य में देखने को मिलता है। कबीर निराकार, गति से परे, रूप से परे, स्पर्श मे परे 'ब्रह्म' की बात करते हैं तो सगुण भक्ति धारा के कवि तुलसीदास तथा सूरदास ने निर्गुण और सगुण में भेद न मानते हुए भी सगुण ब्रह्म की उपासना पर बल दिया है। सूरदास कहते हैं—

अविगत गति कछु कहत न आवै

ज्यों गूंगै मीठे फल को रस अन्तरगत ही भावै।

परम स्वाद सबही जु निरन्तर अमित तोष उपजावै।

मन बानी कौ अगम, अगोचर, सो जानै जो पावै।

रूप रेख गुन जाति जुगति बिनु निरालंब कित धावै।

सब विधि अगम बिचारहि तातै सूर सगुन पद गावै।

गोस्वामी तुलसी दास भी—"सिया राम मय सब जग जानी, करहू प्रणाम जोरू जुग पानी", कह कर भगवान राम के सगुण ब्रह्म पर ही विश्वास व्यक्त करते हैं।

इस प्रकार भक्ति काव्य में निर्गुण और सगुण का अन्तर्विरोध इस धारा को गति देने मे रूकावट का कार्य करता है कबीर का आग्रह—

निरगुन राम जपहु रे भाई।

अविगति की गति लखी न जाई॥

चारि वेद अरू सुम्रित पुरानां, नौ व्याकरनां मरम न जांनां॥

कहै कबीर सो भरमै नांहि, निज जन बैठे हरि की छांही॥

अथवा

हद छाड़ि बेहद गया, किया सुन्नि असनाम।

मुनि जन महल न पावहीं, तहां किया विसराम॥

इसके विपरीत गोस्वामी जी का कथन है कि :—

बंदो रघुपति करूना निधाम। जाते छूटै भव भेद ज्ञान॥

रघुवंस कुमुद सुख प्रद निसेस। सेवित पदपंकज अज महेस॥

निज भगत हृदय पाथोज-भृंग। लावन्य वपुष अगनित अनंग॥

अति प्रबल मोह-तम-मारतंड। अज्ञान गहन पावक प्रचंड॥

अभिमान-सिंधु-कुभज उदार। सुर रंजन, भंजन भूमि भार।

रागादि-सर्पगन-पन्नगारि। कंदर्प नाग मृगपति मुरारि॥

भवजलधि-पोत-चरनारविंद। जानकी रमन आनंद कंद॥

हनुमत प्रेमबापी-मराल। निष्काम कामधुक गो, दयाल॥

त्रैलोक्य-तिलक गुनगहन राम। कह तुलसिदास विश्राम धाम॥[1]

अथवा

राम जपु राम जपु, राम जपु बावरे।

घोर भव-नीरनिधि, नाम निजु नावरे

एक ही साधन सब रिधि सिधि साधी रे।

ग्रसे कलि-रोग जौग संजम समाधी रे॥

---

1 विनय पत्रिका पद सख्या 64।

भलो जो है, पोच जो है, दाहिनो जो बाम रे।

राम नाम ही सो अंत सबही को काम रे॥

जग नभ-बाटिका रही है फलि फूलि रे।

धुवाँ के से धौरहट देखि तू न भूलि रे॥

राम नाम छाँड़ि जो भरोसो करे और दे।

तुलसी परोसो त्यागि माँगै कूर कौर रे॥[1]

उपरोक्त पदों से स्पष्ट है कबीर, सूर और तुलसी की कविता में निर्गुण-सगुण के सम्बंध पर पर्याप्त विवाद है। कबीर दास निर्गुण भक्त हैं। उन्होंने पुराणपोषित अवतारवाद का विरोध किया— 'दसरथ सुत सब लोक बखाना, राम नाम को मरम है आना।' सगुण मत का आधार है अवतारवाद। सूर के कृष्ण और तुलसी के राम अवतारी पुरुष हैं। उनकी सगुण लीला और चरित्र के कवि हैं सूर और तुलसी। विवाद यहाँ खड़ा होता है कि सूर और तुलसी ने निर्गुण ब्रह्म का खण्डन किया है कि नहीं ? वैसे तो सूर वात्सल्य एवं प्रेम के उल्लास से भरपूर जीवन के कवि हैं लेकिन फिर भी सूर ने 'भ्रमरगीत' के उद्धव गोपी संवाद में ज्ञान बनाम भक्ति और निर्गुण बनाम सगुण विवाद के भी अवसर को निकाल ही लिया है। गोपियों के भावाकुल तर्क के आगे ज्ञानी उद्धव निरुत्तर और आवाक हो जाते हैं. अतः यहाँ निर्गुण और सगुण के बीच अन्तर्विरोध स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। भक्ति काव्य और हिन्दी आलोचना पर विचार करते हुए मैनेजर पाण्डेय ने कबीर और तुलसी के बीच वैचारिक अन्तर्विरोध को उद्‌घाटित करते हुए लिखा है कि — ''निर्गुण का खण्डन करते समय तुलसीदास प्रायः कबीर को सामने रखते हैं। कबीर ने कहा था- दसरथ सुत सब लोक

---

1 वही पद सख्या 66।

बखाना, राम नाम को मरम है आना।'' मानो उसे याद करते हुए 'रामचरित मानम' के शिव-पार्वती संवाद में तुलसी ने लिखा कि :—

एक बात नहि मोहि सोहानी।

जदपि मोह बस कहेहु भवानी॥

तुम्ह जोकहा राम कोउ आना।

जेहि श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना॥

कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच।

पाखंडी हरिपद विमुख जानहिं झूठ न साच॥

निर्गुण पंथियों की इससे कठोर आलोचना और क्या हो सकती है? अत: एक तरफ जो वे निर्गुण का उग्र विरोध करते हैं जो दूसरी तरफ दार्शनिक स्तर पर निर्गुण और सगुण के बीच एकता स्थापित करते हुए पुराण पोषित भक्ति का समर्थन करते हैं—

सगुनहि अगुनहि नहि कथु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा॥

अगुन अरुप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥

तुलसी के काव्य में निर्गुण और सगुण को लेकर अन्तर्विरोध उसके जनवादी पक्ष को कोई विशेष हानि नहीं पहुंचता। इसे मात्र प्रत्येक कवि की उसकी जीवन दृष्टि तथा शैली माना जाना चाहिए, जो तत्कालीन समाज से सम्पृक्त होती है जिसका प्रभाव काव्य तथा उसके दार्शनिक सिद्धान्त पर अवश्य पड़ता है। तुलसी जो अवतारवाद के समर्थक राम के सगुण रूप के उपासक हैं, कैसे सम्भव है निर्गुण ब्रह्म का समर्थनकरते। लेकिन कहीं-कही दोनो दृष्टियों को अपना करके उन्होंने अन्तर्विरोध को कम करने का प्रयत्न किया है।

इस तरह मध्यकाल में निर्गुण और सगुण धाराओं के बीच अन्तर्विरोध स्पष्ट परिलक्षित होता है। डॉ० शिव कुमार मिश्र लिखते हैं कि ''जन साधारण की आकांक्षाओं से सगुण राम भक्ति भी जुड़ती है, पर उच्च वर्ण के नेतृत्व की मजबूती के नाते वह इस निम्नवर्गीय जनवादिता का विरोध न करते हुए भी, पुरानी व्यवस्था अर्थात् वर्णाश्रम व्यवस्था का समर्थन करती है और धीरे- धीरे उन निम्नवर्गीय जनवादी रूझान को एकदम समाप्त ही कर देती है।[1]

इस बिन्दु पर विचार करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है कि भक्ति आन्दोलन जन साधारण से शुरू हुआ और जिसमें सामाजिक कट्टरपन के विरुद्ध जन साधारण की सांस्कृतिक आकांक्षाएं बोलती थीं, उसका मनुष्य सत्य बोलता था, उसी भक्ति आन्दोलन को उच्च वर्गीयों ने आगे चलकर अपनी तरह बना लिया और उससे समझौता करके फिर अपना प्रभुत्व कामय करके और अनन्तर जनता के अपने तत्वो को उनमें से निकाल कर उन्होंने उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया।[2]

उपरोक्त स्थिति का कारण केवल हम भक्त कवियों के दृष्टियों में आये फर्क को नहीं ठहरा सकते। श्री दामोदरन तथा मुक्तिबोध दोनों ने इस ओर संकेत किया है कि सामंतवाद के पुनः शक्ति पा जाने के फलस्वरूप राष्ट्रीय पूंजीवादी शक्तियों का वह उभार रूक गया जिसकी संभावना दिखाई पड़ रही थी और भक्ति काल के कवियों का प्रयत्न अपने पूर्ण लक्ष्य को कालांतर में नहीं पा सका।

स्त्री संबंधी दृष्टिकोण भी भक्त कवियों को कटघरे मे खडा कर देता है। एक तरफ कबीर सामाजिक समानता की बात करते हैं तो दूसरी तरफ स्त्री को नरक का कुंड मानते हैं—

---

1 भक्ति आन्दोलन और भक्ति काव्य पृ० 18।

2 नई कविता का आत्म सघर्ष तथा अन्य निबध पृ० 90।

नारी कूंड नरक का विरला थामे बाग। कोई साधुजन ऊबरे, सब जग मुआ लाग।।

कबीर की भाँति तुलसी भी कई स्थानो पर स्त्री को अवगुणों की खान मानते हैं—

सहज अपावन नार, पति सेवत सुभगति लहै।

कत विधि सृजी नारी जगमांही, पराधीन सपनेहु सुख नाहीं। लेकिन साथ ही जब यह कहते हैं कि — "जिमि स्वतंत्र भए विगरहि नारी" तो निश्चित रूप से नारी सबधी धारणा अन्तर्विरोध के केन्द्र में उन्हें खड़ी कर देती है। जनवादी दृष्टि से कबीर और तुलसी की यह मान्यता निःसन्देह एक अप्रगतिशील मान्यता कही जाएगी। उनकी यह धारणा यह स्पष्ट करती है कि नारी के प्रति तत्कालीन समाज कितना सचेष्ठ था और स्वयं वे कितने सचेष्ट थे। भक्तिकाव्य की अपनी वास्तविकताएं हैं। उसमे वर्तमान समय के चित्र के साथ साथ सामंतीय बंधनों को उखाड़ फेंकने की प्रबल आकांक्षा भी निहित है। उसमें कहीं शास्त्र की रूढ़ियों को बिना किसी हिचक के अस्वीकार करने की शक्ति है, तो कहीं लोक के बंधनों की उपेक्षा का साहस भी है और कहीं दोनों में समन्वय की भावना भी। अत: भक्ति काव्य में उस काल के सामाजिक और सांस्कृतिक अंतर्विरोधों की अभिव्यक्ति है, कहीं अन्तर्विरोधों के बीच संघर्ष की चेतना अधिक है तो कहीं समन्वय की कोशिश। प्रत्येक भक्त कवियों का अपना पक्ष है और अन्य पक्षों का प्रतिवाद भी है।

अस्तु भक्ति काव्य के प्रत्येक कवि का मूल्यांकन उसके वैचारिकता को ही केन्द्र में रखकर किया जा सकता है, क्योंकि उनके मूल्य, उनकी समाज के प्रति सोच, सभी कुछ परिस्थितिगत दबाव के परिणाम भी हो सकते हैं। काव्य तथा सोच के धरातल पर अन्तर्विरोध स्वाभाविक है क्योंकि कवि अपने अन्तर्द्वन्द्वों के अनुभूति को ही प्रकट करता है। अत: जिस कवि का अन्त: संघर्ष अनुभूति के स्तर पर जितनी गहरी होगी, उसका काव्यभी उसी रूप में रचित होगा।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के भक्ति आंदोलन संबंधी विचारों की व्याख्या करते हुए नामवर सिंह ने लिखा है कि ''मध्यकाल में मुख्य अन्तर्विरोध शास्त्र और लोक के बीच द्वन्द्व का है''। भक्ति आंदोलन शास्त्रीय धर्म का विरोध करने वाले लोक धर्म के उत्थान का आंदोलन है।.. .. . लेकिन जब नामवर सिंह कहते हैं कि ''सामान्य जन में प्रचलित टोना-टोटका, तंत्र-मंत्र, मिथक आदि विश्वासों को ही वे (हजारी प्रसाद द्विवेदी) लोक धर्म मानते हैं'' तब बात उलझ जाती है।[1]

कबीर शास्त्र सम्मत धर्म का विरोध करते हैं, पंडितों-पुरोहितों, मुल्ला-मौलवियों आदि के साथ-साथ उन सब का विरोध करते हैं, जो वेद पुराण के सहारे अपने मार्ग का निर्माण करते हैं। कबीर शास्त्र विहित मान्यताओं के साथ उन लोकाचारों का भी विरोध करते हैं, जो मनुष्यता के केन्द्र में नहीं आता। वे कहते हैं —

लोकामति के भोरा रे।

जो कासी वन तजै कबीरा, सो रामहिं कहा निहोरा रे॥

× × × × × × ×

कहे कबीर सुनहु रे संतो भ्रमि परे जिमि कोई रे।

जस कासी तस मगहर ऊसर हिरदै रांम सति होई रे॥

कबीर ऐसा नहीं कि मात्र शास्त्र का ही विरोध करते हों वह लोक भ्रम का भी विरोध करते हैं— ''लोका जानि न भूलो भाई।'' इसीलिए कबीर मूल स्रोतों के साथ-साथ लोक व्यवहार मे प्रचलित धार्मिक रूढ़ियों पर भी प्रहार करते हैं और अपने जीवन के

---

1 भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य- मैनेजर पाण्डेय पृ० 29-30।

अनुभव को और अनुभूति (सत्य) को शास्त्र से अधिक प्रमाणित मानते हैं तभी तो वे कहते हैं :-

'तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता आंखिन की देखी।''

इस प्रकार कबीर जैसे संत कवि शास्त्र का विरोध करते हुए एक नई नैतिक चेतना और विश्वदृष्टि विकसित करते हैं, जिसमें एक साथ पूरे विश्व को देखने की शक्ति निहित रहती है- जो साधुमत कहलाता है।

भक्ति साहित्य में शास्त्र के विरोध के परिणाम स्वरूप जो लोकधर्म विकसित हुआ, वह प्रत्येक कवि के वहॉ प्राय: एक जैसा नहीं है। ''प्रत्येक कवि के लोकधर्म का रूप उसकी विश्वदृष्टि के अनुरूप है और कवि की विश्वदृष्टि पर उस वर्ग या समुदाय की जिंदगी की वास्तविकताओं और आकांक्षाओं की छाप है, जिसका वह सदस्य है। वही विश्वदृष्टि प्रत्येक कवि की भक्तिभावना, सामाजिक चेतना और काव्य रचना के विशिष्ट स्वरूप का निर्माण करती है।[1]

कबीर जिस लोक धर्म का विकास कर रहे थे उसका मुख्य लक्षण है-मानुष सत्य या मनुष्यत्व का विकास। आचार्य शुक्ल ने ठीक ही लिखा है कि ''कबीर ने मनुष्यत्व की भावना को आगे करके निम्न श्रेणी की जनता में आत्म गौरव काभाव जगाया''। अत: कबीर के समस्त काव्य को निर्गुण और सगुण के अन्तर्विरोध से ऊपर उठकर उनके मानवतावादी मूल्यों की पहचान ही उनका काव्य का सही मूल्यांकन होगा।

कविता महज विचार नहीं है। बल्कि कवि के अनुभव और अनुभूतियों का एक संवेगात्मक अभिव्यक्ति है जो संवेदना के धरातल पर अपनी स्थायी पहचान बनाती है।

---

1 भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य, भक्ति काव्य और हिन्दी आंलोचन मैनेजर पाण्डेय, पृ० 32।

मध्यकालीन जीवन के संक्रान्ति के मुख्य कारण में इस्लाम के प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता है। भक्ति काल में, समाज जो विभिन्न सम्प्रदायों आदि मे बटा हुआ था, एक जुट होने का प्रयास करता है, जिसमें शायद उनकी विवशता भी रही हो। इस कार्य में निर्गुण भक्ति साहित्य कहीं अधिक मुखर प्रतीत होता है। "निर्गुण कविता की अपनी सीमाएं है। फिर भी तत्कालीन सामाजिक सांस्कृतिक क्षितिज में उसका आविर्भाव और उसमे नानक, दादू, कबीर, नामदेव, रैदास जैसे संतों का योगदान एक बड़ी सामाजिक सांस्कृतिक उपलब्धि है। इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता"।[1]

सगुण कविता के अन्तर्विरोध पर विचार करते हुए डॉ० शिव कुमार मिश्र लिखते हैं कि "सोचके धरातल पर भले ही सगुण भक्ति कविता निर्गुण कविता की तुलना मे अपने सामाजिक दृष्टिकोण में पिछड़ी हुई हो, संवेदना के धरातल पर वह मनुष्य और उसकी नियति के प्रति कम चिन्तनशील नहीं है। निर्गुण संतों के अपने अलग अन्तर्विरोध हैं, जहां तक सगुण भक्तों का सवाल है, उनके अन्तर्विरोध का स्वरूप यह है कि जहाँ और जब भी वे भक्ति आंदोलन की उदात्त मानवीय चेतना से एकतान हुए हैं वे निर्गुण संतों केसमान ही मनुष्य सत्य का उद्घोष करते हैं, मनुष्य के प्रति होने वाले सामाजिक अन्याय का प्रतिवाद करते हैं और महज विचार के धरातल पर ही नहीं चित्रण के धरातल पर भी अपनी उस उन्नत सोच को अभिव्यक्ति देते हैं, उन सामाजिक और मानवीय मूल्यों की हिमायत करते हैं जिनके पक्ष में निर्गुण संत खड़े थे, किन्तु जब वे भक्ति आन्दोलन की उदात्त चेतना से अलग उन संस्कारों से बंध जाते हैं जो परम्परा ने, समाज ने, उनकी वंश परंपरा ने उन्हे दिए है'। वे परम्परागत सामाजिक सोच के तहत उस व्यवस्था की हिमायत करते है, जो शास्त्र सम्मत हैं' वेद विहित हैं। यह द्वन्द्व सगुण भक्त कवियों में विशेषता: तुलसी में सबसे अधिक मुखर

---

1 भक्ति आन्दोलन और भक्ति काव्य डॉ० शिव कुमार मिश्र पृ० 144।

होकर सामने आता है।''[1] आगे वह और स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि–

'परहित' को सबसे बड़ा धर्म और 'परपीडा' को सबसे बड़ी 'अधमाइ' कहने वाले तुलसी जब धर्म को वेद और शास्त्र से जोड़ते हैं, पर पीड़ा पर ही टिकी हुई परम्परागत समाज व्यवस्था की कुछ संशोधनों के साथ हिमायत करते हैं तो उनकी चेतना के ये दो स्तर साफ उभर आते हैं।[2]

उपरोक्त कथन मे तुलसी के वर्णाश्रम व्यवस्था के समर्थन के दृष्टि को लेकर मुख्य चिन्ता दिखाई गई है जो वास्तव में तुलसी के काव्य को अन्तर्विरोध के कटघरे में खडा करता है। लेकिन समस्त मानवीय सरोकार उनके समन्वय वादी दृष्टि में आकर अपने पूर्ण विकास को प्राप्त करता है। जिससे द्वन्द्व की कुछ सीमाएं टूटती हैं।

अतः समस्त अन्तर्विरोधों के बावजूद चाहे वह शास्त्र के स्तर पर हो या लोक के स्तर पर; चाहे वह सगुण के स्तर पर हो या निर्गुण के स्तर पर; चाहे वह जनसामान्य और सामन्तवाद के स्तर पर हो- एक बात तो स्पष्ट हो ही जाती है कि भक्ति साहित्य में प्रेम, जो संतों और भक्तों का केन्द्रवर्ती स्वर रहा है, के द्वारा एक बेहतर समाज की कल्पना की जाती है। कबीर 'बैकुण्ठ द्वार' जायसी का 'सिंहलद्वीप', तुलसी का 'रामराज्य', सूर का 'वृंदावन' सभी का एक ही लक्ष्य रहा है- **''मनुष्यता की स्थापना''**।

अन्तर्विरोध वैचारिक स्तर पर सैद्धान्तिक रूप में हो सकते हैं लेकिन व्यवहार के स्तर पर सभी भक्त कवियों की दृष्टि एक थी, जिसमें वर्गहीन, समाज की स्थापना का स्वर प्रमुख था-जिसके केन्द्र में सामुहिक प्रयत्न की भावना प्रबल रूप से विद्यमान थी।

-----00----

---

1 भक्ति आन्दोलन और भक्ति साहित्य पृ० 146।

2 वही पृ० 146।

षष्ठम् अध्याय

(6) समग्र मूल्यांकन

षष्ठम् अध्याय

समग्र मूल्यांकन

हिन्दी साहित्य की परम्परा मूलत: एक जनवादी परम्परा रही है। हिन्दी के साहित्यकारों ने पूर्वकाल से ही भारतीय जनता की भावनाओ को अपने साहित्य मे व्यक्त किया है, उसके दु:ख-सुख के गीत गाये हैं और लोक कल्याण के आदर्श को सदैव ही अपने सामने रखा है । हिन्दी के भक्त कवि इसी श्रेणी में आते हैं।

मध्यकालीन काव्य जो समाज में व्याप्त बुराइयों, पुरोहित कर्मकाण्डों, धर्मान्तरण तथा वर्णव्यवस्था के विरोध मे अपनी अस्मिता की पहचान करता है, उसमें सामान्य जन की भावनाएं अपनी शिथिल पड़ती जीवन आशा को पुन: नए रूप में पहचानती हैं। भक्ति का जो सोता दक्षिण से बहता हुआ उत्तर भारत की ओर आया उसको अनेक धाराओं के रूप में फैलाने का जो कार्य रामानन्द ने किया था, उससे जन साधारण वर्ग में एक नई चेतना की शक्ति का अभ्युदय हुआ है। जिसकी परिणति भक्ति आंदोलन के रूप में होती है।

साहित्य बुद्धि विरोधी सृष्टि नहीं है किन्तु उसका संबंध बुद्धि से ही नहीं है। वह मनुष्य के सचेत चिन्तन का ही परिणाम नहीं, उसका गहरा संबध मनुष्य के उपचेतन संस्कारों से भी होता है इसीलिए प्रगतिशील या जनवादी साहित्य में जनता से एकात्म होने, सर्वहारा दर्शन के साथ सर्वहारा मनोबल को अपनाने पर जोर दिया जाता है। वस्तुत: भक्ति साहित्य भी जनता से एकात्म का साहित्य है, जिसमें लोक जागरण की भावनाएं निहित हैं।

द्वितीय अध्याय में भक्ति प्रादुर्भाव तथा उसके विस्तार पर विस्तृत विवेचन किया गया है और क्रमश: उसके विकास, उसकी विचारधारा तथा तत्कालीन समाज में उसके प्रभाव को जनवादी दृष्टि से मूल्यांकित करना ही मेरा सदैव प्रयास रहा है।

भक्ति काव्य जो जनभावनाओं का अतुल भण्डार है मनुष्य को केन्द्र में रखकर रचा बुना गया है। भक्ति साहित्य में हमारे भक्त कवियों ने ईश्वर को मनुष्यता की भावभूमि पर प्रतिष्ठित करते हुए मानव मूल्य की स्थापना का प्रयास किया ।

भारतीय संत साहित्य हमारी परम्परा की अनुपम और अद्भुत निधि हैं। इस साहित्य में तत्कालीन भारतीय समाज के अन्तर्द्वन्द्वों का सम्पूर्ण इतिहास निहित है। मध्यकालीन भारत अनेक विजातीय शासको के युग का भारत है। इन शासको और पूर्व विदेशी आक्रमणकारियों में एक मूलभूत अन्तर यह था कि इनका तादात्म्य भारतीय परम्परा के साथ न हो सका। यद्यपि इन्होंने अपना निवास इस देश को बनाया, फिर भी इनके शोषणवादी नीति के कारण असंख्य शोषित जनता के बीच भेद भावों की एक बड़ी खाई बनती गयी। सामाजिक स्तर पर इस खाई को पाटने का प्रयास भी हुआ लेकिन सामानान्तर रेखाओं की भाँति यह दो विभिन्न धाराएं दीर्घकाल से भारतीय संस्कृति में चली आ रही है। इस खाई को पाटने का सबसे पहला प्रयास कबीर के जनवादी साहित्य में हमें देखने को मिलता है।

भारतीय समाज के सामंती ढांचे के साथ ही यह भेद भाव जुड़े हुए हैं। जब यह ढाँचा टूटकर एक नवीन जनवादी व्यवस्था को जन्म देगा, तब ही ये परस्पर के भेदभाव सदा के लिए मिट सकेंगे। इस नई व्यवस्था के लिए जीवन-मरण के संघर्ष मे महान संत कवियों का साहित्य हमारा अमूल्य उत्तराधिकार है।[1] संत कवि भारतीय जनता के प्रतिनिधि थे। उनकी सामाजिक चेतना बहुत तीव्र थी। संतों ने जहाँ गूढ़ शब्दावली का प्रयोग किया है वह महज उनके आध्यात्मिक इच्छा को शांत करने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। संत कवियों ने भक्ति का मार्ग अपनाया, किन्तु उनके मतों मे परस्पर अनेक भेद हैं। तुलसी का संदेश केवल हिन्दू जनता के लिए है। यह सच है कि भारत की बहुसंख्यक जनता हिन्दू

---

1 हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा, प्रकाश चन्द्र गुप्त पृ0 51।

धर्मावलम्बी थी, किन्तु शोषण और सामंती व्यवस्था के शिकार इस्लाम के अनुयायी भी कम न रहे होंगे। राम के शरण में आओ वही कल्याण करेंगे- तुलसी के इस सिद्धान्त से अलग हट के कबीर का निर्गुण ब्रह्म - राम-रहीम के भेदत्व भरे पचड़े से पृथक है। कबीर कहते है:

''करता के कुछ रूप न रेखा। करता के कुछ बरन न भेखा।।

जाके जात गोत कुछ नाहीं। महिमा बरनि न जाय मो पाहीं।।

रूप अरूप नहीं तेहि नाऊँ। बर्न अबर्न नहीं तेहि ठाऊँ।।

कहैं कबीर विचारि कै, जा के बर्न न गाँव।

निराकार औ निर्गुना, है पूरन सब ठाँव ।। ''[1]

इस प्रकार कबीर का विद्रोह समस्त सामंती आचार-विचारो और संस्कृति के प्रति समाज के दलित और त्रस्त वर्गो का विद्रोह है- जिसे लोकधर्म के नाम से पुकारा जा सकता है।

अत: कबीर में विद्रोही चेतना के साथ-साथ प्रेम की भावभूमि भी है जिसे वे जीवन का मूल मंत्र मानते हैं । कबीर प्रेम की महिमा गाते हैं:

''यह तो घर है प्रेम का, जाला का घर नाहिं।।

सीस उतारै, भुई धरै, तब बैठे घर माहि ।।

यह 'सीस उतारना' अर्थात सम्पूर्ण समर्पण की भावना कबीर के दर्शन का प्रमुख पक्ष है, जिसमें ऊँच-नीच, हिन्दू-मुसलमान सभी भेद भाव समाप्त हो जाते है।

---

1 कबीर वचनावली पृ0 119'

अस्तु कबीर के काव्य में सच्ची मानवता की पुकार ध्वनित हैं, तुलसी ने उसे कलियुग का पाप और कुप्रभाव कहा और अपने साहित्य को राम के प्रति समर्पित किया। कबीर का दोनों रूप - मूर्तिभंजक तथा प्रेम परम दृष्टि- मनुष्य मात्र को केन्द्र में रखकर प्रकट होता है । मध्य युग के गहन कुहासे में कबीर के यह अग्रगामी मानवतावादी विचार आलोक की एक तीव्र, तीखी स्वर्ण रेखा है जिससे आज भी अन्ध विश्वासों में डूबा प्राणी बहुत कुछ प्रकाश पा सकता है। संसार में सर्वव्यापी पीडा को देखकर मानवतावादी कवि कबीर का स्वर गीला हो जाता है-

''जो देखा सो दुखिया देखा, तन धरि सुखी न देखा।

उदै अस्त की बात कहत हों, ताकर करो विवेखा।।

अत: कबीर का इन्हीं मानवमूल्यों के आधार पर जाँच परख करने का प्रयास किया गया है। जीवन पर्यन्त अपनी अटपटी, सधुक्कड़ी भाषा में कबीर उत्तर भारत की समस्त जनता को सीख देते रहे। सुकरात के समान अपनी दृढ़ निश्चयी भाषा में कबीर ने सामाजिक शोषण, अनाचार और अन्याय के विरूद्ध अपनी आवाज को जनता के बीच रखा, जो जनवादी दृष्टि का परिचायक है।

कबीर की झकझोर देने वाली वाणी के साथ ही एक और संत काव्य धारा का अभ्युदय हुआ, जिसे प्रेमाख्यान धारा के नाम से जाना जाता है। प्रेमख्यान धारा के कवि जो सूफी संत के नाम से प्रसिद्ध है- प्रेम के अनन्यतम् रूप का परिचय देकर लौकिक रूपकों के माध्यम से जन साधारण मे 'प्रेम' तत्व पर जोर दिये, जो 'रिक्त' पड़ते जा रहे हृदय के लिए 'रस' रूप में उपस्थित हुआ। प्रेम काव्यधारा की सबसे बड़ी देन जन साधारण स्तर पर ''लोक से जुड़ाव '' की भंगिमा है । ''लोक वृत्त और ऐतिहासिक वृत्त का इस तरह आमना-सामना जायसी के अपने रचना विधान की निजी उपज है। संसार के महाकाव्यों मे शायद ही कही यथार्थ के ऐसे द्विखडी रूप का चित्रण हुआ हो। लोक और शिष्ट- ऐतिहासिक वृत्त को

यों बगल-बगल रखने के पीछे कवि की कई दृष्टि हो सकती है। एक सीधा लक्ष्य हो सकता है तुलना के माध्यम से इन दो संसारों के वैषम्य को और गहरा करके दिखाना। इससे फिर गहरी दृष्टि होगी इन दोनों के नैतिक विधान का अन्तर दरसाना। लोक वृत्त की दुनिया में कष्ट है तो कृपा भी है, जब कि ऐतिहासिक वृत्त में कष्ट ही कष्ट है उससे उबरना नही है। पद्मावत का पूर्वार्द्ध तो पूर्णत: सुखांत है जब कि उत्तरार्द्ध चरम दु:खांत । यहाँ विजयदेव नारायण साही ने ठीक लक्षित किया है कि 'पद्मावत' हिन्दी मे अपने ढंग की अकेली ट्रैजिक कृति है। पर सुखांत और दुखांत का यह मेल महाकाव्य को भी जैसे एक दरजा और ऊँचा उठा देता है। यहाँ महाकाव्य का न केवल शास्त्रीय सूची वद्ध वर्णन है- संध्या, प्रात: प्रदोष, युद्ध, मृगया आदि वर्णन यथार्थ का पूरा द्विआयामी चित्रण है। मनुष्य जीवन की समग्रता और उसकी नियति का इससे अधिक पूर्ण और प्रभावी अंकन और कैसे हो सकता है?'' (हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, डॉ0 राम स्वरूप चतुर्वेदी पृ0 43)।

अस्तु उपरोक्त कथन जायसी के लोक और शिष्ट के योग से सम्पन्न उस दृष्टि की ओर संकेत करते हैं, जिसमें मनुष्य मात्र की भावनाएं किस प्रकार अपने कर्मो के माध्यम से अपनी नियति के प्रारब्धको जीते जागते भोगतीं हैं।

जायसी के काव्य में सामान्य जन में प्रचलित रूपकों के माध्यम से ऐकेश्वरवाद की स्थापना की गई है। जायसी का आदर्श लोक 'सिंहल द्विप' के रूप में आता है, जिसमें जीव परम सुख की अनुभूति प्राप्त करता हुआ निरन्तर ईश्वर का साक्षात्कार करता रहता है- कलुष, द्वेष, राग, मोह, आदि से युक्त होकर।

भक्ति आन्दोलन की दूसरी काव्यधारा सगुण काव्य धारा है। जिसमें सगुण ब्रह्म के स्वरूप को राम तथा कृष्ण के रूप में मानवत्व की भावभूमि पर स्थापित किया गया है। इस काव्य धारा के दो प्रबल भक्त कवि हुए गोस्वामी तुलसीदास तथा महाकवि सूरदास।

रामचरित मानस की मार्क्सवादी समीक्षा करते हुए कुछ आलोचक उसे 'शास्त्र' के रूप मे प्रतिष्ठित करना चाहते हैं।' ''तुलसी दास का भाग्य निर्णय करते हुए श्री प्रकाश चन्द्र

गुप्त ने किसी समय लिखा था,"हम देखेगे कि वाल्मीकि , कालिदास और तुलसी ने रघुकुल की प्रशस्तियाँ गाई और राज्य सत्ता को भारी सहारा दिया।" तुलसी के साथ सूर को भी जोड़कर उन्होंने चुने हुए उपमानों से अपने वाक्य का कलात्मक सौन्दर्य बढ़ाते अन्यत्र दिखा था," हम तुलसी और सूर के सामाजिक विचार दर्शन (विचार-दर्शन का जो भी अर्थ हो।) को आज नहीं अपना सकते, उसे इतिहास ने 'मैमथ' और 'डोडो' के समान अजायबघर की वस्तु बना दिया है। किन्तु जनता के प्रति उनका प्रेम, उससे निकटतम उनका सम्बंध उनके काव्य का जन सुलभ रूप आदि अनेक तत्व हमारे लिए आज भी अमूल्य है।"[1]

अतः मार्क्सवादी विचारकों में बहुतों को, "तुलसी का भक्ति मार्ग केवल सर्वण हिन्दू जनता की सांस्कृतिक एकता का प्रतिपादन करता है।"[2] प्रतीत होता है। आगे यशपाल जी 'रामचरित मानस एक ऐतिहासिक प्रक्रिया के कारण शिक्षा की प्रगति बन गया॥" कहते हुए उसे मात्र वर्णव्यवस्था के समर्थन, ब्राहमण की श्रेष्ठता और स्वामी वर्ग के अधिकारों के समर्थन को रामचरित मानस का प्रदेय माना है।

अतः कुल मिलाकर यशपाल जी ने 'रामचरितमानस' का ऐतिहासिक दृष्टि से मूल्यांकन करते हुए तीन स्तरों पर उसके प्रदेय को स्वीकार किया - तुलसी ने 'रामचरित मानस' लिखकर वर्ण व्यवस्था को दृढ़ किया, इस्लाम से हिन्दू धर्म की रक्षा की और कला पक्ष में शैशव सहानुभूति आदि रसों का परिपाक किया। यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि यशपाल जी ने भी धर्मान्तरण को भक्ति काव्य के अन्तर्गत एक महत्वपूर्ण बिन्दु माना है।

उपरोक्त आलोचकों की दृष्टि एकान्तिक दृष्टि हैं जो किसी साहित्य के प्रगति शील तत्व को उदघाटित नहीं कर सकती। लेकिन मार्क्सवाद की दृष्टि मात्र ऐतिहासिक नहीं होती

---

1 मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य राम विलास शर्मा पृ0 242।

2 यशपाल।

वह साहित्य में उसी साहित्य को श्रेष्ठ मानता है जिसमें प्रगतिशील और जनवादी तत्व मौजूद हों। और इसके आधार पर 'सगुणकाव्य धारा' (रामभक्ति धारा) के अन्तर्गत विवेचना किया जा चुका है।

यशपाल जी के क्षोभ पर टिप्पणी करते हुए डॉ0 राम विलास शर्मा लिखते हैं – ''यह दावा अवश्य है कि तुलसी दास सामंत वर्ग के चाकर नहीं थे उन्हें धनी वर्ग ने हाथी पर नहीं चढ़ाया, उनकी भक्ति विप्र वर्ग के लिए ही नहीं थी, उनके दीन दयाल सभी वर्णो के दीनों के लिए दयालु थे, तुलसी ने अपने राम में भारतीय जनता के धैर्य, शूरता, सहानुभूति, सात्विक क्रोध आदि गुणों का चित्रण किया है, इन्होंने 'रामचरितमानस' तथा 'कवितावली' में ग्रामीण जीवन और लोक संस्कृति के अनुपम चित्र दिए है। तुलसी दास मानवीय करूणा और सहानुभूति के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। उन्होंने नारी को 'देशद्रोही' या 'मनुष्य के रूप' की नायिकाओं के रूप में देखा, किन्तु उसकी पराधीनता के प्रति वे अचेत नही हैं और उसके भाग्य से उन्हें गहरी सहानुभूति है, वह सामंती समाज में जनता का उत्पीड़न देख चुके थे, स्वयं सह चुके थे, उनके आत्म निवेदन की करूणा का मुख्य श्रोत यही सामाजिक उत्पीड़न है। इसलिए वह जनता के दुख़-दर्द के भागीदार हैं तभी मध्यकालीन निष्क्रियता में उन्होंने धनुर्धारी राम से रावण का नाश कराया और हमें अन्याय का सक्रिय प्रतिरोध करना सिखाया – इन मानवतावादी मूल्यों का दावा हम तुलसी दास में अवश्य करते है।''

उपरोक्त कथन से ही तुलसी के साहित्य का जनवादी साहित्य के रूप में मूल्यांकन हो जाता है। ''तुलसी एक ऐसे कवि हैं, जो अपने युग की सामाजिक स्तर पर मनुष्य के मानसिक और आध्यात्मिक परिस्थितियो का सच्चा और मार्मिक वर्णन करते हैं। उनके दृष्टिकोण में सामन्तीय विचार धारा के अवशेष मौजूद हैं, किन्तु वे भारत की असंख्य जनता के सच्चे हितू थे और उसी का अविभाज्य अंग थे। उसकी साहित्य रचना का ध्येय जन-जन

की सेवा ही था। प्रतिगामी विचारक तुलसी के जनवादी तत्व ऑख की ओट करना चाहते हैं, ताकि वह जनता को आसानी से भ्रम में डाल सकें।''[1]

तुलसी साहित्य पर विचारकों का दो मत उभर कर सामने आता है एक ऐतिहासिक दृष्टि से पुराना - उसके अनुसार तुलसीदास सामन्तवादी विचारधारा के समर्थक थे और उनके साहित्य से सम्बन्ध तोड़कर ही प्रगतिशील विचार पनप सकते थे। लेकिन कालान्तर में तुलसी साहित्य के प्रति आलोचको के दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ और उन्हें तुलसी सही अर्थो में जनवादी कवि दिखे। प्रकाशचन्द्र गुप्त लिखते हैं कि तुलसी साहित्य हमारी जनवादी परम्परा का एक छोर है, उसका हृदय है। हम आदर औरसम्मान से इस अमृल्य उत्तराधिकार को अपनाते हैं ।[2]

आलोचकीय दृष्टि में परिवर्तन के साथ ही तुलसी के काव्य का लोकतात्विक दृष्टि से मूल्यांकन किया जाने लगा और परिणाम स्वरूप 'राम' को लोक नायक के रूप में स्थापित किया गया।

वास्तव में गोस्वामी तुलसी दास ने जिस तन्मयता से अपने समय को पहचाना और उसे कविता के माध्यम से सबल अभिव्यक्ति दी- वह निःसन्देह उस युग का वास्तविक दस्तावेज है, जिसमें मध्यकालीन जन समुदाय का पूरा चित्र उपस्थित हो जाता है।

जग के दुःखवाद से वैराग्य में त्राण देखना भारतीय दर्शन का चिर-परिचित पथ है। कबीर के समान विद्रोही कवि भी मायावाद में जीवन की दारूण पीड़ा से मुक्ति देखते हैं। नानक भी कहते हैं:-

---

1 हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा, गोस्वामी तुलसीदास प्रकाश चन्द्र गुप्त पृ0 12।

2 वही, पृ0 13।

''जो नर दुःख में दुख नहिं माने,

सुख सनेह अरू भय नहिं जाके, कंचन मारी जाने।

नहिं निन्दा, नहि अस्तुति जाकै, लोभ, मोह, अभिमाना,

हरष, सोक तें रहै नियारो, नाहिं मान, अपमान।

आसा,मनसा सकल त्यागि कै, जग तें रहे निरासा,

काम क्रोध जेहि परसै नाहिंन तेहि घर ब्रह्म निवासा ।

गुरू किरपा जेहि नर पै कीन्हीं, तिन्ह यह जुगति पिछानी

नानक लीन भयो गोविन्द सो, ज्यों पानी संग पानी ''॥

संत काव्य के परलोकवाद के संबंध में पं0 रामचन्द्र शुक्ल के शब्द काफी तीखे हैं। ''आगे चलकर जब मुस्लिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया, तब परस्पर लड़ने वाले स्वतंत्र राज्य भी नहीं रह गये। इतने भारी उलट फेर के पीछे हिन्दू जन समुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी सी छाई रही। अपने पौरूष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करूणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?''[1]

तुलसी के परिवेश पर विचार करते हुए 'तुलसीदास' काव्य में निराला तुलसी के प्रति इन शब्दों में अपनी श्रद्धान्जलि अर्पित करते हैं-

''देश काल के शर से विधकर

यह जागा कवि अशेष छविधर

---

1 हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ0 60

इसका स्वर भर भारती मुखर होएंगी;

निश्चेतन, निज तन मिला विकल

छलका शत शत कल्मष के छल

बहती जो, वे रागिनी सकल सोएंगी।

तुलसी का जीवन अपने समाज से संघर्ष करता है, जो भारतीय जन की व्यथा और पीड़ा से ओत-प्रोत है।

निराला आगे लिखते हैं:

उर के आसन पर शिरस्त्राण,

शासन करते हैं मुसलमान;

है ऊर्मिल जल; निश्चलत्प्राण पर शतदल।

अत: इस्लाम के दबाव के कारण 'शतदल' जो हिन्दू जीवन के उत्फुल्ल प्रतीकों में से एक माना जाता है, निश्चलत्प्राण हो गया था। सांस्कृतिक संकट के ऐसे सघन समय में भी तुलसी ने समाज को एक ऐसी व्यवस्था देनी चाही, जिसमें सभी के लिए स्थान है। 'रामराज्य' की कल्पना तुलसी की कल्पना का वह आदर्श है, जिसमें मनुष्यता अपने जीवन को पूर्ण आस्था के साथ प्रतिष्ठा पाती है।

तुलसी की व्यापकता पर विचार करते हुए डॉ0 राम स्वरूप चतुर्वेदी लिखते हैं ''तुलसी की पहुँच घर-घर में हैं या वे व्यापक समाज में सर्वाधिक लोकप्रिय हैं तो इसका मुख्य कारण यह है कि गृहस्थ जीवन और आत्म निवेदन इन दोनो अनुभव क्षेत्रों के वे बड़े कवि हैं । रामचरित मानस और विनयपत्रिका के युग्म में जैसे सब कुछ सिमट आया हो। गृहस्थ जीवन यों तो वर्णनात्मक काव्य मात्र मे होगा। पर यह चित्रण सदर्भ और

परिवेश के रूप में भी हो सकता है और स्वयं रचना के केन्द्र मे भी हो सकता हें। हिन्दी का कवि प्रायः दूसरे रूप को चुनता है। तुलसी इस बिरादरी के मुखिया हैं।१ तुलसी के काव्य और उसमें व्यवहृत मनुष्य चरित्र को उद्घाटित करता एक और उदाहरण डॉ0 राम स्वरूप चतुर्वेदी का देना चाहेंगे- जिसमें ईश्वर का मानवीकरण मनुष्यता के स्तर पर होता है, उनके कथन से इस बात की पुष्टि हो जाती है-

''तुलसी की विलक्षण प्रतिभा इस बात में है कि उन्होंने भक्त और रचनाकार की भूमिकाओं का एक साथ सफल निर्वाह किया है। भक्त मूलतः दैवी शक्ति के किसी रूप मे आस्था रखता है, जबकि रचनाकार अपनी आस्तिकता-नास्तिकता के बाद एक मूलतः ऐहिक या कि धर्म-निरपेक्ष कर्म मे प्रवृत्त होता है। प्रभु की लीला और कवि की रचना ऐहिक मानवीय क्रियाएं हैं। जैसा कई बार व्यंग्य में कहा जाता है कि राम तो परम ब्रह्म के अवतार थे, चाहते उसी क्षण रावण को समाप्त कर सकते थे। पर उन्होंने नर चरित के रूप में ही रावण वध का निश्चय किया था। रचनाकार भी रचना कर्म के समय इस नर चरित में ही अपनी आस्था रख कर चलता है, उस समय उसका भक्त रूप पीछे हो जाता है ।''2

तुलसी की रचनाधर्मिता मूलतः जनवादी विचारधारा की पक्षधर है। उपरोक्त कथन कवि की दृष्टि को उसी ओर रेखांकित करता है।

अतः तुलसीदास ने अपनी विनय और नम्रता रूपी स्वभाव को मात्र अपने जीवन चरित्र का ही केन्द्र बिन्दु नही बनाया बल्कि काव्यगत स्तर पर भी इसी भावना को बल प्रदान किया- जिसमे जन सामान्य वर्ग रावण रूपी अहंकारी का विनाश होते देखता है और उसे अपने तत्कालीन संदर्भ से जोड़कर देखने के लिए बाध्य हो जाता है।

---

1 हिन्दी साहित्य और सवेदना का विकास, पृ0 49।

2 वही पृ0 48।

काल परिस्थितियों का दबाव साहित्यकार के ऊपर अवश्य पड़ता है और महान साहित्यकार कवि वही कहलाता है जो अपने युग के अनुरूप रचनाधर्मिता को आयाम दे। बाल्मीकि के राम को जब वनवास होता है तो सबसे पहले मार्ग में चलते हुए सीता आगे रहती है, मध्य में लक्ष्मण और सबसे पीछे राम। तुलसी के राम आगे रहते हैं मध्य में सीता तथा पीछे लक्ष्मण । पर मैथिलीशरण गुप्त के साकेत में स्थिति बदल जाती है और तीनो समानान्तर चलते हैं। यहाँ अपने अपने युग में कवि की मनः स्थिति युगानुरूप व्याख्या करती है। प्राचीन काल में नारी शक्ति शाली थी, वह हर तरह के सामाजिक, धार्मिक कृत्यों में भाग लेती थी- वाल्मीकि ने सीता का चित्रण शक्ति के रूप मे किया है। लेकिन मध्यकाल में आकर स्थिति बदल जाती है और नारी की स्थिति शोचनीय हो जाती है। कबीर जैसे महान क्रान्तिदर्शी संत कवि भी उसे नरक का कुंड मानते हैं। अतः तुलसी के चित्रण में सामाजिक पक्ष उभर कर सामने आया है कि किस प्रकार मध्यकालीन नारी अपने आप को असुरक्षित सहसूस करती है। मध्यकालीन सामंती ढांचा को तोडकर जनसामान्य के धरातल पर तुलसी सीता को तो प्रतिष्ठित कर देते हैं लेकिन उसकी असुरक्षा की भावना सदैव बनी रहती है तभी तो रावण जैसा अत्याचारी उसे अपहरण कर लेता है। आधुनिक काल में आकर स्थिति में कुछ हद तक परिवर्तन होता है और दासी बनी हुई स्त्री बराबर के स्तर पर आकर प्रतिष्ठित होती है। पुरूष और स्त्री का स्वरूप एक दूसरे के बराबर स्तर पर निर्धारित होता है,जो बदलते मूल्यों को उद्घाटित करता है। साथ ही साथ साहित्यकार और साहित्य के जनवादी स्वरूप की भी स्पष्ट व्याख्या होती है।

परन्तु मध्यकालीन साहित्य में जो स्त्री का वर्णन आता है उसे यह कह कर कवियों की कमजोरी नहीं मानी जा सकती कि उन्होंने स्त्री को अधम क्यों कहा? वस्तुतः वह समकालीन दबाव का परिणाम था,जो स्वतः स्फूर्ति रूप में अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति पाता है, जो एक प्रकार से लोक में व्यवहृत दृष्टिकोण को उजागर करता है। तुलसी जैसे मर्यादित कवि ने अपने समय के दबाव को महसूस करता हुआ जन मानस में समन्वय की

भावना का बीज वपन किया है, जो उनके काव्य का जनवादी मूल्य बन कर प्रस्तुत होता है।

तुलसी के राम में अन्तर्द्वन्द्व की झलक कहीं भी दृष्टिगत नहीं होती; क्योंकि यहाँ राम अवतारवाद के कड़ी के रूप मे मनुष्यता की भावभूमि पर प्रतिष्ठित किए गये हैं जो उस समाज के लिए आवश्यक था। असंतुष्ट और पथभ्रष्ट समाज में आदर्श पुरूष के रूप मे (ईश्वरीय महिमा से मंडित) राम के चरित्र में अन्तर्द्वन्द्व का समावेश जनता की भावनाओं की तृप्त नहीं करता। लेकिन आधुनिक काल में परिवेश और समाजिक मूल्यों में परिवर्तन होता है, जो तत्कालीन साहित्य में उभर कर सामने आता है। निराला ने ''राम की शक्ति पूजा'' में राम के चरित्र में मानवीय दुर्बलताओ और भावनाओं को स्पष्ट रूप से रेखांकित किया है। 'राम की शक्ति पूजा' के राम शक्ति की मौलिक कल्पना जाम्बवन्त से प्राप्त करते हैं और यह वर्णन उन्हें सामान्य पुरूष के दुर्बलताओं अन्तर्द्वन्द्वों के रूप में खड़ा करता है। राम की हताशा-अन्याय की शक्ति से है। तभी तो राम के आंखों से, इस व्यवस्था और अधर्मरत संस्कृति के प्रति-कष्ट से, अश्रू की धारा बह निकलती है। परवर्ती साहित्य में राम के चरित्र में पुनः परिवर्तन होता है और नरेश मेहता के राम 'संशय की एक रात' में अन्तर्द्वन्द्व के संवेगों से गहरे स्तर पर जुझते दिखलाए गये हैं। यहाँ राम युद्ध और युद्ध के परिणाम स्वरूप उत्पन्न विभीषिका से चिंतित है, जिसमें उनका खण्डित व्यक्तित्व का स्वरूप उभर कर सामने आता है। यही आधुनिक मानव की सबसे बड़ी विडम्बना है।

अस्तु उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम यह कहना चाहते हैं कि तुलसी के राम भी अपने समय के दबाओं से मुक्त नहीं हो सके है और बालि जैसे वीर को भी छिप कर मारने पर विवश होते हैं, यहाँ तुलसी के दार्शनिक मान्यताओं पर तो वे खरे सिद्ध हो सकते हैं, लेकिन ईश्वरत्व और मनुष्यता के स्तर पर असफल। हाँ मनुष्यता के अन्तर्द्वन्द्वों को यह प्रसंग अवश्य उजागर करता है।

इस प्रकार तुलसी का काव्य समग्र भक्ति साहित्य में अपनी लोकधर्मी स्वरूप को स्पष्ट करता हुआ मानव प्रेम की भावनाओं को शक्ति प्रदान करता है और जनता के मूल्यों को प्रतिष्ठित भी करता है। हमने तुलसी के साहित्य मे जनवादी पक्ष को राम के वनगमन प्रस्थान से ही जोड़कर देखा है जहाँ से वे लोकरक्षार्थ कर्म पथ पर अग्रसरित होते है।

भक्ति साहित्य "धर्म और शक्ति के आवरण में, सामाजिक अन्याय के विरोध में और मानवीय न्याय के पक्ष में, एक उन्नत मानवीय समाज और एक उन्नत मूल्य व्यवस्था के पक्ष में खड़ा होने वाला और उसके लिए संघर्ष करने वाला काव्य है।"[1] निर्गुण और सगुण विवाद भले ही भक्ति साहित्य में एक मुद्दा बना हो लेकिन सामाजिक स्तर पर भेद-भाव विहीन सामाजिक संरचना का गठन करने में कुछ हद तक वे कवि सफल दृष्टिगत होते हैं और भक्ति के स्तर पर मनुष्य से मनुष्य के अन्दर अन्तर्विरोध की भावनाओं को मिटाने में उनकी भूमिका महत्वपूर्ण मानी जा सकती है।

भक्ति काल, जो एक जन सांस्कृतिक आंदोलन के रूप में हमारे सामने उपस्थित होता है, में सूर का मानवीय सरोकार से परिपूर्ण काव्य, जनसामान्य को वृंदावन रूपी एक ऐसे स्थल पर लाकर खड़ा कर देता है जहाँ समस्त जाति-पाँति, सामाजिक रूढ़िवादिगत कुसंस्कार सब कुछ समाप्त हो जाते हैं । सूर के काव्य में ग्रामीण संस्कृति की जो गूंज व्यवहारिक स्तर पर सुनाई पड़ती है वह उनके प्रगतिशील भावना को उद्घाटित करता है। सूर के काव्य में प्रेम-जो भक्ति काल का केन्द्रीय तत्व है, स्पष्ट और पवित्र है। सूर के काव्य में प्रेम कबीर से अधिक स्वाभाविक और जायसी से अधिक लौकिक है। सूर को कबीर की तरह वात्सल्य और माधुर्य की अभिव्यक्ति के लिए बालक तथा बहुरिया बनने की आवश्यकता नहीं है और जायसी की तरह की अलौकिक आभा दिखाने की चिंता भी नहीं।

---

1 भक्ति आन्दोलन और भक्ति काव्य, डॉ0 शिव कुमार मिश्र, पृ0 142।

वहाँ यशोदा और गोपियों के हृदय से तादात्म्य के लिए कवि सुलभ महृदयता का सर्जनात्मक उपयोग है उनकी प्रेमानुभूति की अथाह गहराई और अपार विविधता का अक्षय स्रोत प्रेम का लौकिक अनुभव है, कोई शास्त्र नहीं, न काव्यशास्त्र, न भक्तिशास्त्र।[1] अत: सूरदास ने जिस तन्मयता से गोपियों को रूढ़िवादी समाज की चहारदीवारी से बाहर निकाल कर पवित्र प्रेम की भावभूमि पर प्रतिष्ठित किया है, वह उस ममाज मे जनवादी मूल्यों को स्थापित करता है।

मीरा का प्रेम निश्चित रूप से सूर के काव्य की कड़ी के रूप में देखा जा सकता है, जिसमें लोक की रूढ़ियों का बंधन शिथिल पड जाता है। वह लोक धर्म जो मनुष्य के केन्द्रीय तत्व – 'प्रेम' को अवरूद्ध करते हों, नि:संदेह लोकधर्म के श्रेणी में नहीं आ सकते। अत: लोकधर्म की रूढ़िगत मर्यादा को तोड़कर मीरा ने अटूट आस्था और विश्वास के बल पर अपने प्रेम मयी वाणी को अभिव्यक्ति किया हैं और अपना सम्पूर्ण जीवन को प्रेमरस में समर्पित कर दिया। कतिपय विद्वानों को उनका यह रूप कुल की मर्यादा का उल्लंघन लगता है। वह व्यवस्था, जो मनुष्यता को पद दलित करती हो और अपने को प्रगतिशील मानती हो, उसे निश्चित तौर पर उपेक्षित किया जानी चाहिए औरमीरा ने यही किया। मीरा की सामाजिक सजगता, उन्हे प्रगतिशील भावभूमि पर लाकर खडा कर देती है। वह इस मामले में कबीर, तुलसी से आगे निकल जाती हैं। मीरा की विचारधारा एक ऐसी विकल्प की तलाश करती है, जहाँ 'मनुष्यता' केन्द्र में हो और यही भक्ति काव्य का केन्द्रीय अन्तर्वर्ती तत्व रहा है। समस्त भक्त कवियों की विचारधारात्मक परिधि 'मनुष्यता' के केन्द्र के इर्द-गिर्द ही घूमती नजर आती है, जो सच्चे अर्थों में जनवादी मूल्यों को स्थापित करती हैं।

---

1 भक्ति आदोलन और सूरदास का काव्य, मैनेजर पाण्डेय।

अत: भक्ति साहित्य सामाजिक-सांस्कृतिक उपलब्धियो का एक ऐसा जन आंदोलन है जिसमें भारत की सभी जनता अपने-अपने विचारधारा की भाँति समग्र चेतना की अनुभूति करती है। यहाँ वर्ण व्यवस्था के विरूद्ध संघर्ष भी है; मूर्ति पूजा का निषेध भी है तो साथ में प्रेम जैसे भावनामय रागात्मिका वृत्ति भी है। यहाँ वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुकूल धर्मरत प्राणी की कामना भी है और द्विज तथा शूद्र का मिलन भी है। नगर और ग्राम का मिलन भी है और लोक तथा शिष्ट संस्कृतियों के अन्तर्विरोध के परिणाम स्वरूप बेहतर लोक धर्म की स्थापना भी है। अत: यह एक ऐसा सांस्कृतिक नद है, जिसमें 'मनुष्यता' की प्रेम मयी धारा, सबको शीतलता प्रदान करती हुई जन सामान्य को झकृत करती है तथा एक ऐसे भावनामय संसार की स्थापना करती है, जो प्रवृत्तिमार्गी विचारधारा पर आधारित प्रगतिशील चेतना की स्थापना करता हुआ भविष्य के सुखमय स्वरूप की कामना करता है।

———00-----

परिशिष्ट

परिशिष्ट (संदर्भ ग्रंथों की सूची)

1 हिन्दी साहित्य का इतिहास : राम चन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारणी सभा, काशी, 1945।

2 हिन्दी साहित्य की भूमिका : हजारी प्रसाद द्विवेदी; हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई : 1948।

3. हिन्दी साहित्य का आदिकाल : हजारी प्रसाद द्विवेदी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना : 1952।

4. मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य: डॉ0 राम विलास शर्मा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।

5. मार्क्सवादी समाजशास्त्र : बुखारिन निकोलाई : अनु0 शम्भूरत्न त्रिपाठी।

6. मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन (इतिहास तथा सिद्धान्त) शिव कुमार मिश्र : मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी।

7. मार्क्सवाद और साहित्य : महेन्द्र चन्द्र राय।

8 मार्क्सवादी लेख संग्रह : हिन्दुस्तानी कम्यूनिस्ट पार्टी।

9 मार्क्सवाद : यशपाल ।

10. मार्क्स और पिछड़े हुए समाज: डॉ0 राम विलास शर्मा : राज कमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

11 भारतीय साहित्य की भूमिका : डॉ0 राम विलास शर्मा : राज कमल प्रकाशन, नई दिल्ली-पटना : 1996।

12 मानव सभ्यता का विकास : डॉ0 राम विलास शर्मा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 1956।

13 जनवादी समय और साहित्य : डॉ0 राम नारायण शुक्ल।

14 प्रगतिशील आलोचना : प्रकाश चन्द्र शुक्ल।

15 Karl Marx- Selected work - Vol I, Engels

16. दर्शन के इतिहास की रूपरेखा : इ0 खल्याविच, प्रगति प्रकाशन, मास्को।

17. Fundamentals of Marxism, Leninism, F L P H Moscow 1961

18 मार्क्सवादी दर्शन – पीपुल्स बुक हाउस, लखनऊ, 1961।

19 Literature and Art K Mark and F Engels, current Book House, Bombay, Vol I, 1956

20 Boris Suchkov Soviet literature, Vol 3, 1967

21. उपन्यास और लोक जीवन, पी0पी0एच0 दिल्ली।

22. हिन्दी साहित्य कोश, भाग एक : ज्ञान मण्डल लिमिटेड, वाराणसी।

23. हिन्दी साहित्य कोश : भाग दो : ज्ञान मण्डल लिमिटेड, वाराणसी।

24 लोक जागरण और हिन्दी साहित्य : पं0 राम विलास शर्मा, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली।

25 भक्ति काव्य और लोक जीवन : डॉ0 शिव कुमार मिश्र, पीपुल्स लिटरेसी – दिल्ली।

26. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास : राम स्वरूप चतुर्वेदी; लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद – 1986।

27. गोस्वामी तुलसी दास : आचार्य राम चन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी सं0 1900।

28 भक्ति आन्दोलन और भक्ति काव्य: शिव कुमार मिश्र, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद।

29 हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली: भाग 4, 5; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

30. राम काव्य धारा : अनुसंधान एवं अनुचिंतन : भगवती प्रसाद मिश्र; लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद ।

31. तुलसी दास : सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' : भारती भंडार, इलाहाबाद : 1962।

32. कबीर ग्रन्थावली : (सं0) पारसनाथ तिवारी; हिन्दी परिषद् प्रयाग विश्वविद्यालय, 1961।

33 जायसी ग्रन्थावली : सं0 राम चन्द्र शुक्ल; नागी प्रचारणी सभा, काशी: 1949।

34 राम चरित मानस : गीता प्रेस, गोरखपुर संस्करण ।

35. विनय पत्रिका : सं0 हनुमान पोद्दार : गीता प्रेस गोरखपुर ।

36. कवितावली : गीता प्रेस, गोरखपुर सस्करण ।

37. मीराबाई की पदावली: सं0 परशुराम चतुर्वेदी : हिन्दी साहित्य सम्मेलन इलाहाबाद : 1983।

38. रामचंद्रिका : स0 लाला भगवानदीन, राम नारायण लाल, इलाहाबाद 1965।

39 हिन्दी काव्यधारा : राहुल सांकृत्यायन : किताब महल , इलाहाबाद 1945।

40 राम कथा और तुलसीदास : कामिल बुल्के, हिन्दुस्तानी ऐकेडेमी इलाहाबाद 1977।

41. कबीर : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली–पटना 1971।

42. मध्ययुगीन समन्वय साधना : अब्दुल बिस्मिल्ला।

43 मध्यकालीन काव्य साधना : प्रो0 राम चन्द्र तिवारी। विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।

44. भक्ति काव्य का समाजशास्त्र : प्रेम शंकर, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली 1990।

45. भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य : मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 1993।

46. जायसी : विजयदेव नारायण साही: हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद ।

47. मीरा और गिरधर नागर : विश्वनाथ त्रिपाठी; मैकमिलन प्रकाशन सं0 1979।

48. मध्यकालीन धर्म साधना : हजारी प्रसाद द्विवेदी 1952।

49. मध्यकालीन काव्य याधना : वासुदेव सिंह।

50. उत्तरी भारत की संत परम्परा : परशुराम चतुर्वेदी वि0 2008।

51. उत्तरी भारत के सांस्कृतिक विकास में संतो का योगदान : नैपाल सिंह 1989।

52. संत काव्य : परशुराम चतुर्वेदी ।

53. लोकवादी तुलसीदास : विश्वनाथ त्रिपाठी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली 1974।

54. शिव नारायणी सम्प्रदाय और उनका साहित्य : प्रो0 रामचन्द्र तिवारी (1972)। विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।

55. हिन्दी आलोचना – बीसवीं सदी: निर्मला जैन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली

1975।

56. आजकल : साहित्य एवं संस्कृति का मासिक पत्रिका: नई दिल्ली मई 2002।

57. कबीर वचनावली : सं0 श्री अयोध्या सिंह उपाध्याय, नागरी प्रचारणी सभा काशी।

58. सन्त कबीर की साखी: वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई स0 1977।

59. साहित्य का मर्म और धर्म : सत्येन्द्र चतुर्वेदी, देवनागर प्रकाशन जयपुर 1977।

60. हिन्दी आलोचना : विश्वनाथ त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-पटना 1970।

61. हेमचन्द्र राय चौधरी : मैटिरियल्स फार दी स्टडी आफ दी अर्ली हिस्ट्री आफ दि वैष्णव, सेक्ट, कलकत्ता 1920।

62. आर0 जी0 भण्डारकर, कलेक्टेड वर्क्स, भाग 4, पूना 1929।

63. ब्रजेश्वर वर्मा 'वासुदेव कृष्ण', हिन्दी अनुशीलन, अंक 2 1939, वर्ष 7।

64 खड़ी बोली के विकास में ईसाई मिशनरियों का योगदान डॉ- श्याम निर्मल प्रसाद प्रकाशक : श्रद्धेय फा० अर्नेष्ट शलापा एस० वी० डी०, रतलाम (म०प्र०)

65. श्रीमदभागवद् गीता - गीता प्रेस गोरखपुर

66. कठोपनिषद् - गीता प्रेस गोरखपुर

67. वृहदारण्यकोपनिषद् - गीता प्रेस गोरखपुर

68. सूर सागर-सार- स० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड इलाहाबाद, सन् 1954।

69. अष्ट छाप - डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, प्रकाशक राम नारायण लाल, इलाहाबाद, ,सन् 1937।

70. हिन्दी साहित्य – सं० धीरेन्द्र वर्मा, प्रकाशक, हिन्दी-परिषद, प्रकाशन, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद वि० वि० इलाहाबाद, सन् 1959।

71. रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव, डॉ० बद्रीनारायण श्रीवास्तव, हिन्दी परिषद, प्रकाशन हिन्दी विभाग, इलाहाबाद वि० वि० इलाहाबाद।

--------00-----